

भारत में समाज: संरचना एवं परिवर्तन

Society in India : Structure and Change



उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय

तीनपानी बाईपास मार्ग, ट्रांसपोर्ट नगर के पीछे, हल्द्वानी-263139

नैनीताल, (उत्तराखण्ड)

फोन न0- 05946- 261122, 061123

Toll free No. : 18001804025

Email: info@uou.ac.in

Website: <https://uou.ac.in>

अध्ययन मण्डल

अध्यक्ष कुलपति, उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय, हल्द्वानी	संयोजक निदेशक, समाज विज्ञान विद्याशाखा
--	---

अध्ययन मण्डल के सदस्यों के नाम

1. प्रो. जे.पी. पचौरी, (सदस्य) कुलपति, हिमालयन, विश्वविद्यालय, जीवनवाला, देहरादून
2. प्रो. सी.सी.एस. ठाकुर, (सदस्य) प्रो. (से.नि.), रानी दुर्गावती, विश्वविद्यालय, जबलपुर, मध्यप्रदेश
3. प्रो. रबीन्द्र कुमार, (सदस्य) इग्नू, मैदानगढ़ी, नई दिल्ली
4. प्रो. रेनू प्रकाश, (सदस्य) समन्वयक, समाजशास्त्र, उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय, हल्द्वानी
5. डॉ. भावना डोभाल, (मनोनीत सदस्य) असिस्टेंट प्रोफेसर (ए.सी), समाजशास्त्र, उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय, हल्द्वानी
6. डॉ. गोपाल सिंह गौनिया, (मनोनीत सदस्य) असिस्टेंट प्रोफेसर (ए.सी), समाजशास्त्र, उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय, हल्द्वानी

पाठ्यक्रम समन्वयक

प्रो. रेनू प्रकाश, उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय, हल्द्वानी

इकाई लेखक

इकाई संख्या

डॉ. दीपक पालीवाल सहायक प्राध्यापक, उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय, हल्द्वानी	1, 8, 9
डॉ. नीरजा सिंह सहायक प्राध्यापक, उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय, हल्द्वानी	10
डॉ. अनिल सैनी राजकीय महाविद्यालय, पिथौरागढ़, उत्तराखण्ड	2,3,4
डॉ. योगेन्द्र चन्द्र राजकीय महाविद्यालय, रामनगर, उत्तराखण्ड	5, 6,7,11
डॉ. विद्या राय राजकीय महाविद्यालय, रामनगर, उत्तराखण्ड	12, 13, 14

इकाई संयोजक एवं सम्पादक

प्रो. रेनू प्रकाश

डॉ. गोपाल सिंह गौनिया

समन्वयक

असिस्टेंट प्रोफेसर (ए.सी), समाजशास्त्र

उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय, हल्द्वानी

उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय, हल्द्वानी

आई.एस.बी.एन. :

संस्करण- सीमित वितरण हेतु पूर्व प्रकाशन प्रति

कापीराइट@ उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय, हल्द्वानी, नैनीताल, 263139

प्रकाशन वर्ष: 2024

प्रकाशक: उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय, हल्द्वानी, नैनीताल, 263139

नोट: इस पुस्तक की समस्त इकाईयों के लेखन तथा कॉपीराइट संबंधी किसी भी मामले के लिए संबंधित इकाई लेखक जिम्मेदार होगा। इस प्रकाशन का कोई भी अंश उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय, की लिखित अनुमति के बिना मिमियोग्राफी चक्रमुद्रण द्वारा या किसी अन्य साधन से पुनः प्रस्तुत करने की अनुमति नहीं है।



उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय, हल्द्वानी

द्वितीय सेमेस्टर (Second Semester)

BASO (N) 102

CORE PAPER

4 CREDITS

अनुक्रमणिका

भारत में समाज: संरचना एवं परिवर्तन

Society in India: Structure and Change

खण्ड-1

भारतीय समाज: एक परिचय

Indian Society: An Introduction

इकाई-1	भारतीय समाज की विशेषताएं Characteristics of Indian Society	1-12
इकाई-2	वर्ण व्यवस्था Varn system	13-25
इकाई-3	आश्रम व्यवस्था Ashram system	26-37
इकाई-4	धर्म एवं कर्म Dharma and Karma	38-49
इकाई-5	पुरुषार्थ Purusharth	50-64
इकाई-6	संस्कार Sanskar	65-78
इकाई-7	भारत में विविधता में एकता Unity in diversity in India	79-95

खण्ड-1

भारतीय समाज: एक परिचय

Indian Society: An Introduction

इकाई-8	विवाह: अर्थ, उद्देश्य, प्रकार एवं सिद्धांत Marriage: Marriage: Meaning, Aims, Types & theories	96-114
--------	---	--------

भारत में समाज: संरचना एवं परिवर्तन		BASO (N) 102
इकाई-9	परिवार: अर्थ, विशेषताएं एवं प्रकार Family: Meaning, Characteristics & Type	115-131
इकाई-10	नातेदारी : अर्थ, प्रकार एवं श्रेणियाँ Kinship: Meaning, Types and Categories	132-146
इकाई-11	जाति: अर्थ, विशेषताएं एवं जातीय गतिशीलता Caste: Meaning, Characteristics & caste Mobility	147-163

खण्ड-3

भारतीय समाज की संरचना एवं संघटक
Structure and Components of Indian Society

इकाई-12	जनजातीय समाज : अर्थ, विशेषताएं, वर्गीकरण, विवाह एवं परिवार Tribal Society: Meaning, Characteristics, Classification, Marriage & Family	164-183
इकाई-13	ग्रामीण समाज: अर्थ, विशेषताएं, विवाह एवं परिवार Rural Society: Meaning, Characteristics, Marriage and Family	184-203
इकाई-14	नगरीय समाज: अर्थ, विशेषताएं एवं समस्याएं Urban Society: Meaning, Characteristics and Problems	204-219

इकाई-01

भारतीय समाज की विशेषताएँ

Indian Society-Characteristics

इकाई की रूपरेखा

- 1.0 प्रस्तावना
- 1.1 उद्देश्य
- 1.2 विविधता में एकता
 - 1.2.1 क्षेत्रीय या भौगोलिक विविधता
 - 1.2.2 भाषायी विविधता
 - 1.2.3 प्रजातीय विविधता
 - 1.2.4 धार्मिक विविधता
 - 1.2.5 जातिगत विविधता
 - 1.2.6 सांस्कृतिक विविधता
 - 1.2.7 जनांकिकीय विविधता
- 1.3 संयुक्त परिवार व्यवस्था
- 1.4 जाति-व्यवस्था
- 1.5 अध्यात्मिकता
- 1.6 सारांश
- 1.7 पारिभाषिक शब्दावली
- 1.8 अभ्यासार्थ प्रश्नों के उत्तर
- 1.9 संदर्भ ग्रन्थ सूची
- 1.10 सहायक उपयोगी पाठ्य सामग्री
- 1.11 निबंधात्मक प्रश्न

1.0 प्रस्तावना

भारत इतना विशाल देश है, जिसमें अनेकों विभिन्नताएं पाई जाती हैं। प्रकृति के विविध रूप जैसे ऊँचे-ऊँचे-पहाड़, महासागर, वन, मरुस्थल व पठार आदि हैं। इस प्रादेशिक व भूगोलिक विविधता वाले विशाल भूखंड पर निवास करने वाला भारतीय समाज, विश्व के अति प्राचीन समाजों में से एक है। सैकड़ों भाषाओं और बोलियों का यह देश अनेक आदिवासीयों के सामाजिक जीवन की विचित्रताओं से युक्त है। भारतीय समाज के अध्ययन करने वाले विद्वानों ने भारतीय समाज की प्रमुख संरचनात्मक विशेषताएं खोजने का प्रयास किया है। एम.एन. श्रीनिवास ने भारतीय सामाजिक संरचना की प्रमुख विशेषता, इसकी सामाजिक-सांस्कृतिक विविधता को बताया है। ड्यूमो ने श्रेणी को भारतीय समाज का प्रमुख लक्षण माना है। योगेन्द्र सिंह ने भारतीय समाज के प्रमुख संरचनात्मक व परम्परागत चार लक्षण बताये हैं: श्रेणी बेद्र्था, समग्रवाद (Holism), निरन्तरता (Continuity) तथा लोकातीत्व (transcendence)। प्रस्तुत इकाई में भारतीय समाज की विभिन्न विशेषता पर चर्चा की गई है।

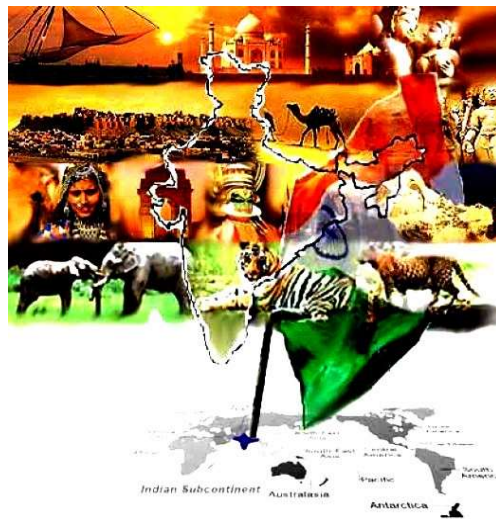
1.1 उद्देश्य

इस इकाई का मुख्य उद्देश्य भारतीय समाज की विभिन्न विशेषताओं के बारे में पूर्ण जानकारी प्रदान करना है, ताकि भारतीय समाज के विभिन्न पहलुओं की पूर्ण जानकारी हो सके।

1.2 विविधता में एकता

भारतीय समाज की एक महत्वपूर्ण विशेषता है, विविधता में एकता जैसा कि हम जानते हैं कि, भारतीय समाज की विभिन्नता को कई क्षेत्रों में देखा जा सकता है। हमारा देश भूमध्य गोलाद्ध में

स्थित है। उत्तर से दक्षिण तक भारतीय भूमि की लम्बाई 3,214 किलोमीटर और पूरब से पश्चिम तक यह 2,933 किलोमीटर है। इस प्रकार भारत का कुल क्षेत्र 32,87,263 वर्ग किलोमीटर है। भारतीय समाज और संस्कृति में हमें अनेक प्रकार की विविधताओं के दर्शन होते हैं, जिन्हें धर्म, जाति, भाषा, प्रजाति आदि में व्याप्त विभिन्नताओं के द्वारा सरलता से समझा जा



सकता है। इन विभिन्नताओं को कुछ मुख्य बिन्दुओं में बाँटकर अब हम उन पर चर्चा करेंगे –

1.2.1 क्षेत्रीय या भौगोलिक विविधता

उत्तर में हिमालय से लेकर दक्षिण में कन्याकुमारी तक और पूर्व में अरुणाचल प्रदेश से लेकर पश्चिम में राजस्थान तक अनेक भौगोलिक विविधतायें हैं। कश्मीर में बहुत ठंड है तो दक्षिण भारतीय क्षेत्र बहुत गर्म है। गंगा का मैदान है जो बहुत उपजाऊ है तथा इसी के किनारे कई प्रमुख राज्य, शहर, सभ्यता और उद्योग विकसित हुए। हिमालयी क्षेत्र में अनेक प्रसिद्ध धार्मिक स्थल जैसे- बद्रीनाथ, केदारनाथ तथा गंगा, यमुना, सरयू, ब्रह्मपुत्र आदि नदियों का उद्गम स्थल है। देश के पश्चिम में हिमालय से भी पुरानी अरावली पर्वतमाला है। कहीं रेगिस्तानी भूमि है तो वहीं दक्षिण में पूर्वी और पश्चिमी घाट, नीलगिरी की पहाड़ियाँ भी हैं। यह भौगोलिक विविधता भारत को प्राकृतिक रूप से मिला उपहार है।

1.2.2 भाषायी विविधता

भारत एक बहुभाषी राष्ट्र है, प्राचीन काल से ही भारत में अनेक भाषाओं व बोलियों का प्रचलन रहा है। वर्तमान में भारत में 18 राष्ट्रीय भाषाएँ तथा 1,652 के लगभग बोलियाँ पाई जाती हैं। भारत में रहने वाले लोग इतनी भाषाएँ व बोलियाँ इसलिए बोलते हैं। क्योंकि, यह उपमहाद्वीप एक लम्बे समय से विविध प्रजातीय समूहों की मंजिल रहा है। भारत में बोली जाने वाली भाषाओं को मुख्य रूप से चार भाषा-परिवारों में बाँटा जा सकता है।

- **ऑस्ट्रिक परिवार**-इसके अन्तर्गत मध्य भारत की जनजातीय-पट्टी की भाषाएँ आती हैं जैसे-संथाल, मुण्डा, हो आदि।
- **द्रावीडियन परिवार**-तेलुगु, तमिल, कन्नड़, मलयालम, गोंडी, आदि।
- **साइनो-तिब्बतन परिवार**- आमतौर पर उत्तर-पूर्वी भारत की जनजातियाँ।
- **इंडो-यूरोपियन परिवार**-भारत में सबसे अधिक संख्या में बोली जाने वाली भाषाएँ व बोलियाँ इण्डो आर्य-भाषा परिवार की हैं। जहाँ एक ओर पंजाबी, सिंधी भाषाएँ व बोलियाँ बोली जाती हैं। वहीं दूसरी ओर मराठी, कोंकणी, राजस्थानी, गुजराती, मारवाड़ी, हिन्दी, उर्दू, छत्तीसगढ़ी, बंगाली, मैथिली, कुमाउंनी, गढ़वाली जैसी भाषाएँ व बोलियाँ बोली जाती हैं।

भारतीय संविधान की 8 वीं अनुसूची में केवल 18 भाषाएँ ही सूचीबद्ध हैं। यह भाषाएँ असमिया, उड़िया, उर्दू, कन्नड़, कश्मीरी, गुजराती, तमिल, तेलुगु, पंजाबी, बंगला, मराठी, मलयालम, संस्कृत, सिंधी, हिन्दी, नेपाली, कोंकणी और मणिपुरी हैं। इसके अतिरिक्त संविधान के अनुच्छेद 343(2) के रूप में हिन्दी के साथ अंग्रेजी भाषा को भी सरकारी काम-काज की भाषा माना गया। सभी भाषाओं

में हिन्दी एक ऐसी भाषा है जो 2001 की जनगणना के अनुसार सबसे ज्यादा लोग बोलते हैं अर्थात् 248 करोड़।

1.2.3 प्रजातीय विविधता

प्रजाति ऐसे व्यक्ति का समूह है जिनमें त्वचा का रंग, नाक का आकार, बालों के रंग के प्रकार आदि कुछ स्थायी शारीरिक विशेषताएं मौजूद होती हैं। भारत को प्रजातियों का अजायबघर इसीलिए कहा गया है क्योंकि, यहाँ समय-समय पर अनेक बाहरी प्रजातियाँ किसी न किसी रूप में आती रहीं और उनका एक-दूसरे में मिश्रण होता रहा। भारतीय मानवशास्त्री सर्वेक्षण के अनुसार देश की प्रजातीय स्थिति को सही तरह से समझ पाना कठिन है। प्रजाति व्यक्तियों का ऐसा बड़ा समूह है जिसकी शारीरिक विशेषताओं में बहुत अधिक बदलाव न आकर यह आगे की पीढ़ियों में चलती रहती हैं। संसार में मुख्यतः 3 प्रजातियाँ कॉकेशायड, मंगोलॉयड, नीग्रॉयड पाई जाती हैं। सरल शब्दों में इन्हें हम ऐसे मानव-समूह के नाम से सम्बोधित करते हैं जिनके शरीर का रंग सफेद, पीला तथा काला हो। भारतीय समाज में शुरू से ही द्रविड़ तथा आर्य, प्रजातीय रूप से एक-दूसरे से अलग थे। द्रविड़ों में नीग्रॉयड तथा आर्यों में कॉकेशायड प्रजाति की विशेषताएं अधिक मिलती थीं। बाद में शक, हूण, कुषाण व मंगोला के आने पर मंगोलॉयड प्रजाति भी यहाँ बढ़ने लगी व धीरे-धीरे यह सभी आपस में इतना घुल-मिल गई कि आज हमें भारत में सभी प्रमुख प्रजातियों के लोग मिल जाते हैं।

1.2.4 धार्मिक विविधता

भारत में अनेक धर्मों को मानने वाले लोग रहते हैं। एक समय तक भारत में एक साथ विश्व के कई धर्म फले-फूले हैं जैसे- हिन्दू धर्म, इस्लाम धर्म, सिख धर्म, बौद्ध धर्म, इसाई धर्म, पारसी धर्म, यहूदी धर्म। यहाँ हिन्दू धर्म के अनेक रूपों तथा सम्प्रदायों के रूप में वैदिक धर्म, पौराणिक धर्म, सनातन

धर्म, शैव धर्म, वैष्णव धर्म, शाक्त धर्म, नानक पन्थी, आर्यसमाजी आदि अनेक मतों के मानने वाले अनुयायी मिलते हैं। इस्लाम धर्म में भी शिया और सुन्नी दो मुख्य सम्प्रदाय मिलते हैं। इसी प्रकार सिक्ख धर्म भी नामधारी और निरंकारी में, जैन धर्म दिगम्बर व श्वेतांबर में और बौद्ध धर्म हीनयान व महायान में विभक्त हैं। भारतीय समाज विभिन्न धर्मों तथा मत-मतान्तरों का संगम-स्थल रहा है। भारत एक धर्मनिरपेक्ष राज्य है, जहाँ सभी को अपने-अपने धर्म का आचरण व पालन करने की छूट मिली है। वर्ष 2001 की जनगणना के अनुसार भारत में हिन्दू धर्म के अनुयायी सबसे ज्यादा अर्थात् 81.92 प्रतिशत, मुस्लिम धर्म के 12.29 प्रतिशत, इसाई धर्म के 2.16 प्रतिशत, सिक्ख धर्म 2.02 प्रतिशत, बौद्ध धर्म 0.79 प्रतिशत जैन धर्म के 0.40 प्रतिशत तथा अन्य 0.42 प्रतिशत हैं। इस प्रकार सभी धर्मों के लोगों की उपस्थिति को यहाँ देखकर यह कहा जा सकता है कि, देश की धार्मिक संरचना बहुधर्मी है।

1.2.5 जातिगत विविधता

‘प्यूपिल ऑफ इण्डिया’ के अनुसार भारत में लगभग 4,635 समुदाय हैं। यह भारतीय संस्कृति की मौलिक विशेषता है, जो और कहीं नहीं पायी जाती। यह व्यक्ति को जन्म के आधार पर एक समूह का सदस्य मान लेता है, जिसके अन्तर्गत समूह अपने सदस्यों के खान-पान, विवाह और व्यवसाय, सामाजिक सम्बन्धों हेतु कुछ प्रतिबन्धों को लागू करता है। आज बाहरी प्रजातियाँ भी हमारी जातियों में ही समाहित हो गई हैं, यह इस व्यवस्था की व्यापकता को ही दर्शाता है। यद्यपि कई विचारकों जैसे के. एम. पणिक्कर और ईरावती कर्वे ने माना है कि जाति-व्यवस्था ने हिन्दू समाज को खण्ड-खण्ड में बाँट दिया है।

1.2.6 सांस्कृतिक विविधता

भारतीय संस्कृति में हम प्रथाओं, वेश-भूषा, रहन-सहन, परम्पराओं, कलाओं, व्यवहार के ढंग, नैतिक-मूल्यों, धर्म, जातियों आदि के रूप में भिन्नताओं को साफ तौर से देख सकते हैं। उत्तर-भारत की वेशभूषा, भाषा, रहन-सहन आदि अन्य प्रान्तों यथा दक्षिण, पूर्व व पश्चिम से भिन्न हैं। नगर और गाँवों की संस्कृति अलग है, विभिन्न जातियों के व्यवहार के ढंग, विश्वास अलग हैं। हिन्दुओं में एक विवाह तो मुस्लिमों में बहुपत्नी-प्रथा का चलन है, देवी-देवता भी सबके अलग-अलग हैं। भारतीय मानवशास्त्रीय सर्वेक्षण के अनुसार भारत में 91 संस्कृति क्षेत्र हैं। गाँवों में संयुक्त परिवार प्रथा तथा श्रमपूर्ण जीवन है तो शहरों में एकांकी परिवार है। अतः स्पष्ट है कि भारत सांस्कृतिक दृष्टि से अनेक विविधताएँ लिए हैं।

1.2.7 जनांकिकीय विविधता

सन् 2001 की जनगणना के अनुसार भारत की जनसंख्या 102 करोड़ से अधिक थी जो आज 121 करोड़ तक पहुँच चुकी है। देश के विभिन्न राज्यों में जनसंख्या में बहुत विविधता मिलती है। उत्तर प्रदेश में जनसंख्या का कुल 16.17 प्रतिशत हिस्सा है तो उत्तर-पूर्वी राज्यों सिक्किम, मिजोरम, अरुणांचल प्रदेश, गोवा, मणिपुर आदि में कुल जनसंख्या का एक प्रतिशत भाग रहता है। दिल्ली में औसतन 9,294 लोग एक वर्ग किलोमीटर क्षेत्र में रहते हैं तो वहीं अरुणांचल प्रदेश में इतने में 13 लोग रहते हैं। साक्षरता की दृष्टि से भारत का अध्ययन करने पर चलता है कि, सबसे कम साक्षरता बिहार में 47 प्रतिशत तथा सबसे अधिक लोग 99.1 प्रतिशत केरल में साक्षर हैं। देश में 6.78 करोड़ के लगभग विभिन्न जनजातियों के लोग रहते हैं जिनकी जीवन शैली बिल्कुल अलग है। कुल जनसंख्या में अनुसूचित जातियों तथा पिछड़े वर्गों की जनसंख्या 47 प्रतिशत है।

बोध प्रश्न 1

- i) भारतीय संविधान की 8 वीं अनुसूची में केवल 15 भाषाएँ ही सूचीबद्ध हैं- सत्य /असत्य
-
- ii) प्रजाति ऐसे व्यक्ति का समूह है जिनमें त्वचा का रंग, नाक का आकार, बालों के रंग के प्रकार आदि कुछ स्थायी शारीरिक विशेषताएं मौजूद होती हैं। सत्य /असत्य
-

1.3 संयुक्त परिवार व्यवस्था

वे परिवार जिनमें अनेक पीढ़ियों के रक्त संबंधी साथ-साथ रहते हैं, एक साथ भोजन ग्रहण करते हैं व सभी सदस्य द्वारा अर्जित आए आपस में सामान्य रूप से विभाजित करते हैं व सदस्यों की आवश्यकताओंको पूर्ण करते हैं उसे संयुक्त परिवार या विस्तृत परिवार कहा जाता है। प्रारम्भ से ही संयुक्त परिवार व्यवस्था, भारतीय समाज की एक विशिष्ट विशेषता रही है लेकिन समय के साथ साथ ये व्यवस्था भी धूमिल होती जा रही है भारत एक कृषि प्रधान देश रहा है और कृषि एक ऐसा व्यवसाय है जिसमें अधिक से अधिक व्यक्तियों की आवश्यकता होती है इसी आवश्यकता के कारण भारतीय समाज में संयुक्त परिवार व्यवस्था विकसित हुई और आज भारतीय समाज की एक प्रमुख विशेषता कही जा सकती है।

1.4 जाति व्यवस्था

भारतीय समाज कठोर श्रेणीबद्धता में बंधा है। समाज चाहे किसी भी श्रेणी, काल-खण्ड या युग का हो, उसके स्वरूप में असमानता एवम् विभेदीकरण का किसी-न-किसी रूप में पाया जाना

एक अनिवार्यता है। सामाजिक विभेदीकरण के अन्तर्गत व्यक्तियों को अनेक वर्गों, भाषा, आयु, सगे-सम्बन्धियों, नातेदारों, लिंग, धर्म, स्थान-विशेष इत्यादि का आधार लेकर अलग किया जाता है। समाजशास्त्रीय परिप्रेक्ष्य में देखें तो सामाजिक स्तरीकरण वह प्रक्रिया है जिसके द्वारा समाज के प्रत्येक व्यक्ति और वर्ग का जन्म, शिक्षा, व्यवसाय और आय के आधार पर विभाजन किया जाता है।

जाति-व्यवस्था की स्थापना हमारी भारतीय समाज की आधारभूत विशेषता है। भारत में सामाजिक स्तरीकरण की प्रक्रिया का मूल आधार जहाँ जाति और वर्ग रहे हैं तो वहीं पश्चिमी देशों में केवल वर्ग। भारत में हिन्दू-समाज प्राचीन समय से ही जाति के आधार पर अनेक श्रेणियों में बँटा रहा है। जाति-व्यवस्था के आने के कारण हमारा समाज समस्तरीय और विषमस्तरीय रूप से अनेक भागों में बँटता चला गया। तुलनात्मक रूप से देखें तो जाति-व्यवस्था के अन्तर्गत अनेक श्रेणियों में बँधे समूह वर्ग-व्यवस्था में श्रेणीबद्ध समूहों से कहीं अधिक संख्या में हैं। भारत की वर्तमान सामाजिक संरचना को देखें तो पता चलता है कि, वर्तमान में समाज न केवल जातीय आधार पर बल्कि वर्गीय आधार पर भी स्तरीकृत हो रहा है।

1.5 आध्यात्मिकता

भारतीय समाज की अन्य मुख्य विशेषता धर्म एवं नैतिकता की प्रधानता है। धर्म व्यक्ति के जीवन के प्रत्येक पहलु को नियन्त्रित करता है। विश्व के सभी प्रमुख धर्म विद्यमान हैं। भारत में अनेक धर्मों को मानने वाले लोग रहते हैं। एक समय तक भारत में एक साथ विश्व के कई धर्म फले-फूले हैं जैसे- हिन्दू धर्म, इस्लाम धर्म, सिख धर्म, बौद्ध धर्म, इसाई धर्म, पारसी धर्म, यहूदी धर्म। यहाँ हिन्दू धर्म के अनेक रूपों तथा सम्प्रदायों के रूप में वैदिक धर्म, पौराणिक धर्म, सनातन धर्म, शैव धर्म, वैष्णव धर्म, शाक्त धर्म, नानक पन्थी, आर्यसमाजी आदि अनेक मतों के मानने वाले अनुयायी मिलते

है। इस्लाम धर्म में भी शिया और सुन्नी दो मुख्य सम्प्रदाय मिलते हैं। इसी प्रकार सिक्ख धर्म भी नामधारी और निरंकारी में, जैन धर्म दिगम्बर व श्वेतांबर में और बौद्ध धर्म हीनयान व महायान में विभक्त है। भारतीय समाज विभिन्न धर्मों तथा मत-मतान्तरों का संगम-स्थल रहा है सभी जीवों के कल्याण एवं दया में विश्वास, परोपकार, सहानुभूति व सहनशीलता आदि विचारों की प्रधानता भारतीय समाज की एक अन्य विशेषता है भारतीय समाज की एक महत्वपूर्ण विशेषता है भारतीय समाज आध्यात्मिक विचारों में विश्वास रखता है जैसे की पुनर्जन्म, आत्मा, पाप, पुण्य, कर्म, धर्म और मोक्ष भारतीय समाज पर धर्म का बहुत गहरा प्रभाव है चाहे कोई भी समुदाय जैसे हिंदू, मुस्लिम, सिख, किसी भी समुदाय को लिया जाये सभी की प्रमुख सामाजिक संस्थाएं धर्म द्वारा प्रभावित होती है।

1.6 सारांश

इस इकाई में हमने भारतीय समाज की विभिन्न विशेषताओं को स्पष्ट किया है। पहले यह बताया गया है कि भारत में पायी जाने वाली विविधताएं किन-किन रूपों में विद्यमान हैं, उसके बाद इन सभी विविधताओं के बीच भारतीय समाज में देखी जा सकने वाली एकता की भावना को इन्हीं आधारों पर समझाया गया है। भारत देश में प्राचीन समय से ही अनेक संस्कृतियों, भाषाओं, स्थानों और प्रजातियों के लोगों का आना-जाना बना रहा। कालान्तर में इनमें से कई जातियाँ, संस्कृतियाँ यहीं रच-बस गईं और धीरे-धीरे यहाँ के वातावरण और संस्कृति में एकाकार होकर एक नई मिली-जुली संस्कृति का रूप ले लिया। आज भारत में जो लोग निवास कर रहे हैं, उनकी अलग-अलग बोलियाँ-भाषाएँ हैं, अलग धर्म-संस्कृति है, अलग नस्ल-प्रजातियाँ हैं और भिन्न मान्यताएँ, रिवाज, प्रथाएँ, मत और विश्वास हैं। परन्तु इतनी भिन्नताओं के होने पर भी यह कहा जा सकता है कि, यह सभी एक भारत का प्रतिनिधित्व करते हैं, एक ही माला के अलग-अलग फूल हैं जो एक ही धागे में

पिरोये हुए हैं। भारत इतना विशाल देश है, जिसमें विभिन्न भिन्नता पाई जाती हैं। भारत अपनी विविधता में एकता, जाति व्यवस्था, सयुक्त परिवार व्यवस्था, धर्म व आध्यात्मिकता के लिए विश्व भर में जाना जाता है।

1.7 पारिभाषिक शब्दावली

विविधता - इसका अर्थ सामूहिक अंतर है। समूहों और संस्कृतियों की विविधता ही विभिन्नता है।

जाति - एक वंशानुगत, अंतर्विवाही प्रस्थिति समूह जिसका एक विशिष्ट पारंपरिक पेशा होता है।

एकता - समाज के सदस्यों को आपस में जोड़कर रखने वाली भावना।

प्रजाति - समान आनुवांशिक और जैविकीय विशेषता वाले मनुष्यों का वह वर्ग जो उन्हें दूसरे वर्ग से अलग करता है।

1.8 अभ्यासार्थ प्रश्न के उत्तर

i) असत्य

ii) सत्य

1.9 संदर्भ ग्रन्थ सूची

मुकर्जी, रविन्द्रनाथ, 1989, भारतीय समाज व संस्कृति, विवेक प्रकाशन, नई दिल्ली।

हसनैन, नदीम, 2005, समकालीन भारतीय समाज: एक समाजशास्त्रीय परिदृश्य, भारत बुक सेन्टर, लखनऊ।

महाजन एवं महाजन, 1989, सामाजिक संरचना एवं सामाजिक प्रक्रियाएं, शिक्षा सहित्य प्रकाशन, मेरठा।

1.10 सहायक उपयोगी पाठ्य सामग्री

बोस, एन. के., 1967, कल्चर एण्ड सोसाइटी इन इंडिया, एशिया पब्लिशिंग हाउस, बम्बई।

दोषी व जैन, 2009, भारतीय समाज-संरचना एवं परिवर्तन, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली।

मदान टी. एन. (संपा), 1991, रिलिजन इन इंडिया, ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, नई दिल्ली।

मजूमदार एम. टी., 1979, इंडियन रिलीजियस हेरीटेज: ए कल्चरल हिस्ट्री ऑफ इंडिया, एलाइड पब्लि० प्रा० लि०, नई दिल्ली।

1.11 निबंधात्मक प्रश्न

1. “भारतीय समाज में विविधता में एकता पाई जाती है” इस कथन की पुष्टि कीजिये।
2. भारतीय समाज की किन्हीं दो प्रमुख विशेषताओं की उदाहरण सहित व्याख्या कीजिये।

इकाई-02**वर्ण व्यवस्था
Varna System**

इकाई की संरचना

- 2.0 प्रस्तावना
- 2.1 उद्देश्य
- 2.2 भारतीय समाज के आधार
 - 2.2.1 भारतीय सामाजिक संगठन के प्रमुख आधार या तत्व
 - 2.2.2 वर्ण व्यवस्था
 - 2.2.2.1 वर्ण का उत्पत्ति-सम्बन्धित सिद्धान्त
- 2.3 वर्णों के कर्तव्य या वर्णधर्म
- 2.4 भारतीय सामाजिक संगठन में वर्ण व्यवस्था का महत्व
- 2.5 सारांश
- 2.6 पारिभाषिक शब्दावली
- 2.7 अभ्यासार्थ प्रश्न के उत्तर
- 2.8 संदर्भ ग्रन्थ
- 2.9 सहायक उपयोगी पाठ्य सामग्री
- 2.10 निबंधात्मक प्रश्न

2.0 प्रस्तावना

भारत संस्कृति एवं परम्पराओं का देश है। विश्व में आज भी भारतीय संस्कृति एवं परम्पराओं की विशिष्ट पहचान है। जबकि रोम, मिश्र तथा बेबीलोनिया की विश्व प्रसिद्ध संस्कृतियाँ

इतिहास बनकर रह गयी। भारतीय संस्कृति की इस विशिष्टता का प्रमुख कारक भारतीय सामाजिक संगठन है। समाज एक अखण्ड व्यवस्था नहीं है। यह अनेक इकाइयों के सहयोग से बनता है। समाज में पायी जाने वाली प्रत्येक इकाई का समाज में एक निश्चित कार्य होता है। उदाहरणार्थ- जाति प्रथा या संयुक्त परिवार का भारतीय समाज में एक निश्चित स्थान तथा कार्य निर्धारित है। इन निश्चित कार्यों और निश्चित स्थान के आधार पर जाति प्रथा और संयुक्त परिवार किसी-न-किसी रूप में एक-दूसरे से सम्बद्ध होती है और इसके फलस्वरूप उनका एक संगठित व सन्तुलित रूप प्रकट होता है। इसी को सामाजिक संगठन कहते हैं। दूसरे शब्दों में, सामाजिक संगठन वह स्थिति है जिसमें समाज की विभिन्न इकाइयाँ अपने-अपने कार्यों के आधार पर एक-दूसरे से सम्बद्ध हो जाने के फलस्वरूप एक सन्तुलित स्थिति को उत्पन्न करती हैं।

भारतीय सामाजिक संगठन का अर्थ भारतीय समाज में पायी जाने वाली उस सन्तुलित या व्यवस्थित स्थिति से है जो इस समाज की विभिन्न इकाइयों के अपने-अपने स्थान पर रहते हुए पूर्व निश्चित कार्यों को करने के फलस्वरूप उत्पन्न होती है। इस दृष्टिकोण से भारतीय सामाजिक संगठन उस व्यवस्था की ओर संकेत करता है जिसके अंतर्गत भारतीय जीवन के स्थापित तथा मान्य उद्देश्यों और आदर्शों की प्राप्ति संभव होती है। इन उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए भारतीय समाज में विभिन्न व्यवस्थाओं को प्रस्थापित किया गया है, जैसे वर्ण-व्यवस्था, आश्रम-व्यवस्था, धर्म, कर्म, संयुक्त परिवार-व्यवस्था, जाति व्यवस्था इत्यादि। इन उप-व्यवस्थाओं में वर्ण-व्यवस्था भारतीय सामाजिक संगठन की केन्द्रीय धूरी है क्योंकि इसके द्वारा न केवल समाज को कुछ निश्चित वर्णों में बाँटा गया है। बल्कि सामाजिक व्यवस्था व कल्याण को दृष्टि में रखते हुए प्रत्येक वर्ण के कर्तव्य एवं कर्मों को भी निश्चित किया गया है। इस प्रकार जहाँ एक ओर वर्ण-व्यवस्था समाज में सरल श्रम-विभाजन की व्यवस्था करती है, वहीं दूसरी ओर आश्रम-व्यवस्था द्वारा जीवन को चार स्तरों में बाँटकर और प्रत्येक स्तर पर कर्तव्यों के पालन का निर्देश देकर मानव-जीवन को सुनियोजित किया गया है। इसी

प्रकार धर्म एवं कर्म का भारतीय समाज के संगठन में महत्वपूर्ण भूमिका है। ये सभी भारतीय समाज के प्रमुख आधार हैं, और इन सबका सम्मिलित रूप भारतीय सामाजिक संगठन को विशिष्टता प्रदान करने में महत्वपूर्ण भूमिका है। इस अध्याय में भारतीय सामाजिक संगठन की प्रमुख आधार या तत्व के रूप में वर्ण व्यवस्था की विवेचना की जायेगी।

2.1 उद्देश्य

प्रस्तुत इकाई में भारतीय समाज के आधार: वर्ण व्यवस्था का विस्तृत अध्ययन किया गया है। इस इकाई का प्रमुख उद्देश्य भारतीय समाज के आधार वर्ण व्यवस्था का समाज में महत्व को समझना है। इस इकाई के अध्ययन के पश्चात आप वर्ण व्यवस्था की अवधारणा को समझ सकेंगे तथा कर्म तथा पुनर्जन्म के सिद्धांत का ज्ञान प्राप्त कर सकेंगे।

2.2 भारतीय सामाजिक संगठन के प्रमुख आधार या तत्व

भारतीय समाज की संस्कृति तथा समाज का आधार अत्यधिक प्राचीन है। अनेकोनेक भारतीय सामाजिक संस्थाओं का विकास वैदिक युग में ही हो गया था। वैदिक युग में वर्ण व्यवस्था, आश्रम व्यवस्था, विवाह, धर्म, कर्म आदि का उद्भव एवं विकास हुआ, अपितु भारतीय समाज को आधार प्रदान किया। समाज में श्रम विभाजन हेतु चार वर्णों-ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र की रचना की गयी। इसी प्रकार पुरुषार्थों की प्राप्ति हेतु मनुष्य की आयु सौ वर्ष मानकर चार आश्रमों- ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और सन्यास में विभाजित किया गया। धर्म और कर्म को भी भारतीय संस्कृति में प्रमुख स्थान दिया गया है। धर्म और कर्म के अनुसार कार्य करने पर ही मोक्ष प्राप्त किया जा सकता है, जो मानव जीवन का प्रमुख उद्देश्य है। इस प्रकार आश्रम व्यवस्था, वर्ण व्यवस्था, धर्म और कर्म भारतीय समाज को न केवल आधार प्रदान करते हैं अपितु दिशा-निर्देशित भी करते हैं।

2.2.1 वर्ण व्यवस्था

‘वर्ण’ वह है जिसको व्यक्ति अपने कर्म और स्वभाव के अनुसार चुनता है। प्रतिस्पर्द्धा का अभाव हिन्दू संस्कृति का ध्येय है और इसी के एक उपाय-स्वरूप वर्ण-व्यवस्था का विधान है, जिसका तात्पर्य है-सांसारिक सम्पत्ति के लिए अपने वर्ण की अर्थात् पैतृक आजीविका को अपनाकर उससे सन्तुष्ट रहना। इसी वर्ण-व्यवस्था की उत्पत्ति को रंग, गुण और कर्म के आधार पर समझाने का प्रयत्न किया गया है। पर साथ ही इस बात को भी स्वीकार किया गया है कि इस व्यवस्था के अन्तर्गत प्रत्येक वर्ण के कुछ कर्तव्य-कर्म होते हैं जिसे ‘वर्ण-धर्म’ कहा जाता है। भारतीय हिन्दू सामाजिक संगठन का एक प्रमुख आधार-स्तम्भ चार वर्ण या वर्ण-व्यवस्था है। वर्ण-व्यवस्था के अन्तर्गत समाज के सदस्यों को चार वर्णों-ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र-में विभाजित किया गया था और प्रत्येक वर्ण के लिए कुछ नियमों व कर्तव्यों को निर्धारित कर दिया गया था।

वर्ण व्यवस्था का अर्थ:-प्रायः ‘जाति’ और ‘वर्ण’ इन दोनों संकल्पनाओं को लोग एक ही मान लेते हैं और एक ही अर्थ में इन दोनों का प्रयोग भी करते हैं। परन्तु वास्तव में ऐसा करना उचित नहीं है क्योंकि ‘वर्ण’ शब्द का अर्थ ‘रंग’ लगाते हैं। यदि साहित्यिक दृष्टिकोण से देखा जाए तो कहा जा सकता है कि ‘वर्ण’ शब्द वृत्र वरणे या ‘वृ’ धातु से बना है, इसका अर्थ है वरण करना या चुनना। यह हो सकता है कि इस अर्थ से किसी व्यवसाय या पेशे के चुनाव का तात्पर्य और इस रूप में वर्ण का अर्थ उस समूह से हो सकता है जो एक विशेष प्रकार के पेशे का अपनाता था अथवा समाज द्वारा निर्धारित कुछ निश्चित कार्यों को करता था।

इस प्रकार वर्ण-व्यवस्था भारतीय सामाजिक संगठन की आधारशिला के रूप में है। यहां आर्थिक आधार के स्थान पर व्यक्ति के गुण तथा स्वभाव के आधार पर समाज को चार वर्णों (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र) में विभाजित



किया है। वर्ण सामाजिक विभाजन की वह व्यवस्था है जिसका आधार पेशा, कर्म या गुण है। वास्तव में वर्ण-व्यवस्था का आधारभूत उद्देश्य समाज का कार्यात्मक विभाजन करना था। और भी स्पष्ट

शब्दों में, प्राचीन समय में सामाजिक व्यवस्था व संगठन को बनाए रखने के लिए यह आवश्यक था कि समाज के कार्यों का एक सुनियोजित विभाजन किया जाए ताकि व्यक्ति या समूह एक दूसरे के कार्यों में अनावश्यक रूप से हस्तक्षेप न करें। इसी उद्देश्य से कर्मों और गुणों के आधार पर समाज के सदस्यों को चार विभिन्न समूहों में बाँट देने की योजना चालू की गई, उसी को वर्ण-व्यवस्था की संज्ञा दी गई। इस प्रकार स्पष्ट है कि सामाजिक कार्यों व कर्तव्यों के आधार पर समाज को विभिन्न समूहों में विभाजित करने की व्यवस्था को ही वर्ण-व्यवस्था कहा जाता है।

बोध प्रश्न 1.

i) भारतीय हिन्दू सामाजिक संगठन का एक प्रमुख आधार-स्तम्भ चार वर्ण या वर्ण-व्यवस्था है- सत्य/असत्य

.....

ii) वर्ण व्यवस्था से क्या अभिप्राय है? अपना चार पांच पंक्तियों में दीजिए?

2.2.2.1 वर्ण का उत्पत्ति सम्बन्धित सिद्धान्त

वर्ण की उत्पत्ति किस भाँति हुई, इस सम्बन्ध में अनेक प्रचलित हैं। कुछ प्रमुख सिद्धान्तों का वर्णन निम्नलिखित हैं

i). **परम्परागत सिद्धान्त-** वर्ण की उत्पत्ति के सम्बन्ध में परम्परागत सिद्धान्त सबसे प्राचीन सिद्धान्त है ऋग्वेद के पुरुसुक्त के अनुसार परमपुरुष अर्थात् ईश्वर ने ही समाज को चार वर्णों में विभाजित किया है, तथा विभिन्न वर्णों का जन्म उसी परमपुरुष के शरीर के विभिन्न अंगों से हुआ है 'पुरुषसुक्त' में कहा गया है कि ईश्वर ने अपने मुख से ब्राह्मण, बाहु से क्षत्रिय, जंघा से होने के कारण उन्हें व्यापार और वाणिज्य का कार्य करना होता है। अन्त में, चूँकि पैर का कार्य पूरे शरीर को गतिशील रखते हुए उसकी सेवा करना है और शूद्रों की उत्पत्ति से हुई है, अतः शूद्र का कार्य सम्पूर्ण समाज की सेवा करना है।

ii). **रंग का सिद्धान्त-** भृगु ऋषि ने वर्णों की उत्पत्ति का दूसरा सिद्धान्त प्रस्तुत किया। उनके अनुसार परम-पुरुष अर्थात् ब्रह्मा ने पहले-पहले केवल ब्राह्मणों की ही रचना की थी। लेकिन बाद में मानव जाति के चार वर्ण- ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र विकसित हुए। वास्तव में जैसे कि भृगु ऋषि का विचार है। इनका विभाजन शरीर के रंग के आधार पर हुआ। ब्राह्मणों का रंग सफेद (श्वेत), क्षत्रियों का लाल (लोहित), वैश्य का पीला (पीत) तथा शूद्र का काला (श्याम) था। शरीर के इन विभिन्न रंगों के आधार पर ही मानव-समाज को चार वर्णों में विभाजित किया गया।

iii) **कर्म का सिद्धान्त-** वर्ण-उत्पत्ति को समझाने के लिए कर्म के सिद्धान्त का भी सहारा लिया जाता है। कुछ विद्वानों का कथन है कि वैदिक युग में वर्ण की उत्पत्ति समाज की मूलभूत आवश्यकताओं को ध्यान में रखकर की गयी थी। उस समय समाज की चार आधारभूत आवश्यकताएँ (अ) पठन, पाठन, धार्मिक तथा बौद्धिक कार्यों की पूर्ति, (ब) राज्य का संचालन तथा समाज की रक्षा, (स) आर्थिक क्रियाओं की पूर्ति तथा (द) सेवा थीं। समाज-व्यवस्था को सुचारू रूप से संचालित करने के लिए यह आवश्यक था कि समाज को कुछ निश्चित श्रेणियों में बाँटकर लोगों के कार्यों का नियमन व सामाजिक आवश्यकताओं की पूर्ति की जाती। इस उद्देश्य से चार वर्णों की

रचना की गयी। चारों वर्णों को उर्पयुक्त चारों कार्य सौंप दिये गये और इन कार्यों को उन वर्णों का धर्म या कर्तव्य माना गया। सभी वर्णों के सदस्यों में यह बात कूट-कूट कर भर दी गई कि कुछ विशेष कार्यों को करना उनका धर्म है और उनका उन्हें पालन करना है। अतः कर्म के सिद्धान्त के अनुसार, समाज-व्यवस्था को स्थिर रखने के लिए धार्मिक कर्तव्य के रूप में कर्मों के विभाजन के फलस्वरूप ही वर्ण-व्यवस्था की उत्पत्ति हुई।

बोध प्रश्न-2

i) वर्ण की उत्पत्ति के संबंध में सबसे प्राचीन सिद्धांत किसको माना गया है?

.....

ii) रंग का सिद्धांत किसके द्वारा प्रस्तुत किया गया है?

.....

2.3 वर्णों के कर्तव्य या वर्णधर्म

हिन्दू शास्त्रकारों ने विभिन्न वर्णों के कुछ निश्चित कर्तव्यों या 'धर्म' का भी निर्धारण किया है। शास्त्रों के अनुसार चारों वर्णों के कुछ सर्वसामान्य 'धर्म' या कर्तव्य भी होते हैं, जैसे-जीवित प्राणियों को हानि न पहुँचाना, सत्य की खोज करना, चरित्र एवं जीवन की पवित्रता को बनाये रखना, इन्द्रियों पर नियन्त्रण, आत्म संयम, क्षमा, ईमानदारी, दान आदि सद्गुणों का अभ्यास करना आदि। परन्तु इसके अतिरिक्त प्रत्येक वर्ण के कुछ अलग-अलग कर्तव्य या धर्म भी हैं, इन्हीं को वर्ण-धर्म कहते हैं।

1. **ब्राह्मण**- 'पुरुषसुत्र' में ब्राह्मण को समाज का मस्तिष्क माना गया है। ज्ञानार्जन और ज्ञान-वितरण करना ब्राह्मण का प्रमुख का प्रमुख कर्तव्य है। वेद पढ़ना तथा पढ़ाना, इन्द्रियों का दमन कर त्याग

और तपस्या के द्वारा समाज के सम्मुख उच्चादर्शों को प्रस्तुत करना ब्राह्मण का प्रमुख 'धर्म' (कर्तव्य) बताया गया है। 'मनुस्मृति' के अनुसार ब्राह्मणों का कर्तव्य स्वाध्याय, वृत, होम तथा यज्ञ है। क्षमा, शील, धैर्य तथा निर्मलता ब्राह्मण के प्रधान गुण हैं। वेद-ज्ञान या ब्रह्मज्ञान का सच्चा अधिकारी होने के कारण ही ब्राह्मण सभी मनुष्यों में श्रेष्ठ है और मोक्ष का भी प्रथम अधिकारी है।

2. क्षत्रिय- 'पुरुषसूक्त' में क्षत्रिय को समाजरूपी मनुष्य की भुजा (हाथ) अर्थात् शक्ति व संरक्षण का प्रतीक माना गया है। जिस प्रकार भुजाएँ शरीर की रक्षा करती हैं उसी प्रकार क्षत्रिय भी समाज की रक्षा करता है। वेदाध्यायन, यज्ञ करना तथा लोगों की रक्षा करना ही क्षत्रियों का कर्तव्य है। शासन तथा सुव्यवस्था का उत्तरदायित्व क्षत्रियों पर ही होता है। 'मनुस्मृति' के अनुसार भी क्षत्रिय का कार्य प्रजा की रक्षा करना, अध्ययन, दान तथा यज्ञ आदि करना है।

3. वैश्य- जिस प्रकार जाँघ का काम सम्पूर्ण शरीर के भार को सँभाले रखना होता है, उसी प्रकार समाज के भरण-पोषण का उत्तरदायित्व अपने ऊपर लेकर समाज के अस्तित्व को बनाए रखना ही वैश्यों पर ही रहता है। वेदाध्ययन करना, व्यापार तथा कृषि-कार्य में संलग्न रहना, पशुओं का पालन करना तथा दान देना वैश्य के प्रमुख कर्तव्य हैं। 'मनुस्मृति' के अनुसार वैश्य के कार्य पशुओं का पालना तथा उसकी रक्षा करना, दान, अध्ययन, यज्ञ, वाणिज्य तथा कृषि हैं। वैश्य का कार्य ऋण देना भी है और वे उस ऋण पर ब्याज भी ले सकते हैं।

4. शूद्र - शूद्रों की उत्पत्ति ब्रह्मा के चरणों से बतायी गयी है जिन चरणों से गंगा की धारा निकली, जिन चरणों के स्पर्श से अहिल्य तर गयी, उन्हीं चरणों से उत्पन्न होने के कारण शूद्र महान तथा पवित्र हैं। यह समाजरूपी पुरुष का चरण माना गया है। जिस प्रकार चरणों की सहायता से शरीर गतिशील होता है अर्थात् चलता-फिरता है उसी प्रकार सामाजिक जीवन में गतिशीलता शूद्रों के कारण ही सम्भव होती है। जिस प्रकार चरण सहिष्णुता की साक्षात् मूर्ति है उसी प्रकार शूद्र भी सहिष्णुता व

सहनशीलता की प्रतिमूर्ति होता है। अन्य वर्णों की सेवा करना शूद्र का परम 'धर्म' या कर्तव्य है। 'मनुस्मृति' के अनुसार शूद्रों का कार्य द्विज वर्णों (ब्राह्मण, क्षत्रिय व वैश्य) की सेवा करना है। 'मनुस्मृति' के विधान के अनुसार ब्राह्मण का यह कर्तव्य है कि वह अपने शूद्र सेवक की जीविका की उचित व्यवस्था करे। यदि किसी शूद्र को अन्य वर्णों के यहाँ कार्य नहीं मिलता है तो वह हस्त-कौशल से अपनी जीविका का निर्वाह कर सकता है।

2.4 भारतीय सामाजिक संगठन में वर्ण व्यवस्था का महत्व

कुछ विद्वान वर्ण-व्यवस्था को अव्यवहारिक तथा समाज में असमानता उत्पन्न करने वाली संस्था कहते हैं। परन्तु वास्तव में उन्होंने वर्ण-व्यवस्था के ऊपरी रूप को ही देखा है। भारतीय सामाजिक संगठन में वर्ण-व्यवस्था के निम्नलिखित महत्व का उल्लेख किया जा सकता है:

1. समाज में सरल श्रम विभाजन-वर्ण व्यवस्था समाज में सरल श्रम विभाजन लागू करती है। इस व्यवस्था के अन्तर्गत प्रत्येक व्यक्ति को परम्परागत रूप में अपने पिता के पेशे को अपनाना पड़ता है। इसमें व्यक्ति इच्छा और अनिच्छा का कोई प्रश्न नहीं उठता। इसका कारण भी स्पष्ट है और वह यह है कि प्रत्येक वर्ण से यह आशा की जाती है कि वह अपने परम्परागत पेशे को अपनायेगा। इस प्रकार स्पष्ट है कि वर्ण-व्यवस्था ने समाज में सरल श्रम विभाजन लागू किया है।

2. सामाजिक आवश्यकताओं की पूर्ति- वर्ण-व्यवस्था का उद्देश्य तत्कालीन समाज की कुछ मूलभूत आवश्यकताओं की पूर्ति सुचारू रूप से करना था। उस समय समाज की कुछ मूलभूत आवश्यकताएँ थी- (अ) पठन-पाठन, धार्मिक तथा बौद्धिक कार्यों व आवश्यकताओं की पूर्ति, यह उत्तरदायित्व ब्राह्मणों पर लादा गया (ब) राजनीतिक सुरक्षा तथा सुव्यवस्था का संचालन व नियमन, इस कार्य को शौर्य-वीर्ययुक्त क्षत्रिय को सौंपा गया, (स) आर्थिक सुव्यवस्थाओं की पूर्ति, अर्थात् कृषि-कार्य, अन्य प्रकार के भौतिक उत्पादन-कार्य, पशु-पालन, व्यापार तथा वाणिज्य सम्बन्धित

कार्यों के लिए वैश्यों को चुना गया, (द) सामाजिक जीवन से सम्बन्धित सेवा-कार्य सामाजिक जीवन की वास्तविक नींव इन्हीं सेवा कार्यों को करने का उत्तरदायित्व शूद्रों को सौंपा गया। इस रूप से यह स्पष्ट है कि सभी सामाजिक आवश्यकताओं की पूर्ति की व्यवस्था चातुर्य के अन्तर्गत की गयी।

3. सामाजिक संगठन में दृढ़ता प्रदान करना- वर्ण-व्यवस्था सामाजिक संगठन को सुदृढ़ता प्रदान करने में भी अत्यधिक सहायक सिद्ध हुई है। वर्ण-धर्म के आधार पर समाज के सभी व्यक्ति पारस्परिक अधिकार तथा कर्तव्य के एक सुदृढ़ सूत्र में एक-दूसरे से संबद्ध हो जाते हैं जो एक अधिकार है, वही दूसरे का कर्तव्य है। साथ ही, बिना अपने कर्तव्यों का पालन किये, कोई भी व्यक्ति अपने अधिकारों का उपभोग नहीं कर सकता है। उदाहरणार्थ, ब्राह्मण अपने वर्ण-धर्म का पालन किये बिना, अर्थात् समाज के बौद्धिक तथा आध्यात्मिक विकास में योगदान दिये बिना, अपनी मौलिक आवश्यकताओं की पूर्ति नहीं कर सकता क्योंकि उनके लिए उसे विशेष रूप से वैश्य वर्ण पर आधारित रहना पड़ता है और चूँकि ब्राह्मण यह जानता है कि अन्य वर्णों द्वारा उसकी अन्य आवश्यकताओं की पूर्ति हो जायेगी, इस कारण इन आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए अपने को चिन्तित किये बिना ही ब्राह्मण अपने वर्ण-धर्म का पालन निष्ठापूर्वक करता रहता है। यही बात दूसरे वर्णों पर भी लागू होती है।

4. समाज में समानता बनाए रखना- कुछ विद्वान वर्ण-व्यवस्था को समानता के लिए घातक मानते हैं। परन्तु यह उनका भ्रम है। वर्ण-व्यवस्था समाज को चार वर्णों में अवश्य विभाजित करती है परन्तु साथ ही इन चारों वर्णों को आपस में कोई उच्चता या निरन्तरता का स्तर निर्धारित नहीं करती है। इस व्यवस्था के अन्तर्गत सभी वर्णों का महत्व समान है, यद्यपि सबके धर्म, कर्म या कर्तव्य पृथक-पृथक हैं।

5. रक्त की शुद्धता बनाए रखना- वर्ण-व्यवस्था का एक महत्व यह भी है कि यह रक्त की शुद्धता को बनाये रखती है। वास्तव में वर्ण-व्यवस्था के अन्य उद्देश्यों में एक उद्देश्य यह भी था कि आर्य लोग अपने समूह के रक्त की शुद्धता को बनाए रखें। वास्तव में, प्रत्येक वर्ण में आपस में विवाह सम्बन्धी प्रतिबन्ध होते हैं और इस कारण वर्णों में रक्त की शुद्धता बनी रहती है।

2.5 सारांश

भारतीय सामाजिक संगठन का अर्थ भारतीय समाज में पायी जाने वाली उस सन्तुलित या व्यवस्थित स्थिति से है जो इस समाज की विभिन्न इकाइयों के अपने-अपने स्थान पर रहते हुए पूर्व निश्चित कार्यों को करने के फलस्वरूप उत्पन्न होती है। इस दृष्टिकोण से भारतीय सामाजिक संगठन उस व्यवस्था की ओर संकेत करता है जिसके अंतर्गत भारतीय जीवन के स्थापित तथा मान्य उद्देश्यों और आदर्शों की प्राप्ति संभव होती है। इन उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए भारतीय समाज में विभिन्न व्यवस्थाओं को प्रस्थापित किया गया है, जैसे वर्ण-व्यवस्था, आश्रम-व्यवस्था, धर्म, कर्म, संयुक्त परिवार-व्यवस्था, जाति व्यवस्था इत्यादि। इन उपव्यवस्थाओं में वर्ण-व्यवस्था भारतीय सामाजिक संगठन की केन्द्रीय धूरी है क्योंकि इसके द्वारा न केवल समाज को कुछ निश्चित वर्णों में बाँटा गया है। बल्कि सामाजिक व्यवस्था व कल्याण को दृष्टि में रखते हुए प्रत्येक वर्ण के कर्तव्य एवं कर्मों को भी निश्चित किया गया है। इस प्रकार वर्ण व्यवस्था समाज में सरल श्रम-विभाजन की व्यवस्था करती है।

2.6 पारिभाषिक शब्दावली

वर्ण-कर्म के आधार पर व्यवसाय चुनना।

वर्णधर्म- प्रत्येक वर्ण के कुछ कर्तव्य-कर्म होते हैं जिसे 'वर्ण-धर्म' कहा जाता है।

2.7 अभ्यासार्थ प्रश्न के उत्तर

बोध प्रश्न-1

- i) सत्य
- ii) इस प्रश्न का उत्तर 2.2.1 में देखें।

बोध प्रश्न-2

- i) परम्परागत सिद्धांत।
- ii) रंग का सिद्धान्त भृगु ऋषि ने प्रस्तुत किया।

2.8 संदर्भ ग्रन्थ

पी० एच० प्रभु: हिन्दु समाज की व्यवस्था

राम अहूजा: भारतीय समाज

जी. के. अग्रवाल, समाजशास्त्र

राधाकमल मुखर्जी: भारतीय समाज विन्यास

2.9 सहायक उपयोगी पाठ्य सामग्री

बोस, एन. के., 1967, कल्चर एण्ड सोसाइटी इन इंडिया, एशिया पब्लिशिंग हाउस, बम्बई।

दोषी व जैन, 2009, भारतीय समाज-संरचना एवं परिवर्तन, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली।

मदान टी. एन. (संपा), 1991, रिलिजन इन इंडिया, ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, नई दिल्ली।

मजूमदार एम. टी., 1979, इंडियन रिलीजियस हेरीटेज: ए कल्चरल हिस्ट्री ऑफ इंडिया, एलाइड पब्लिशिंग प्रा. लि., नई दिल्ली।

2.10 निबंधात्मक प्रश्न

1. हिन्दू सामाजिक व्यवस्था में वर्ण व्यवस्था के महत्व की विवेचना कीजिए।
2. वर्णधर्म किसे कहते हैं? वर्णधर्म की विस्तार से व्याख्या कीजिए।

इकाई-03

आश्रम व्यवस्था Ashram System

इकाई की संरचना

3.0 प्रस्तावना

3.1 उद्देश्य

3.2 आश्रम व्यवस्था

3.2.1 आश्रम का अर्थ एवं परिभाषा

3.2.2 आश्रम-व्यवस्था का अभिप्राय

3.2.3 आश्रम व्यवस्था का प्रकार

3.2.3.1 ब्रह्मचर्याश्रम

3.2.3.2 गृहस्थाश्रम

3.2.3.3 वानप्रस्थाश्रम

3.2.3.4 सन्यासश्रम

3.3 आश्रम व्यवस्था का सामाजिक या समाजशास्त्रीय महत्व

3.4 सारांश

3.4 पारिभाषिक शब्दावली

3.5 अभ्यासार्थ प्रश्न के उत्तर

3.6 संदर्भ ग्रन्थ

3.7 सहायक उपयोगी पाठ्य सामग्री

3.8 निबंधात्मक प्रश्न

3.0 प्रस्तावना

विश्व में आज भी भारतीय संस्कृति एवं परम्पराओं की विशिष्ट पहचान है। जबकि रोम, मिश्र तथा बेबीलोनिया की विश्व प्रसिद्ध संस्कृतियाँ इतिहास बनकर रह गयीं। भारतीय संस्कृति की इस विशिष्टता का प्रमुख कारक भारतीय सामाजिक संगठन है। समाज एक अखण्ड व्यवस्था नहीं है। यह अनेक इकाइयों के सहयोग से बनता है। समाज में पायी जाने वाली प्रत्येक इकाई का समाज में एक निश्चित कार्य होता है। उदाहरणार्थ- जाति प्रथा या संयुक्त परिवार का भारतीय समाज में एक निश्चित स्थान तथा कार्य निर्धारित है। इन निश्चित कार्यों और निश्चित स्थान के आधार पर जाति प्रथा और संयुक्त परिवार किसी-न-किसी रूप में एक-दूसरे से सम्बद्ध होती है और इसके फलस्वरूप उनका एक संगठित व सन्तुलित रूप प्रकट होता है। इसी को सामाजिक संगठन कहते हैं। दूसरे शब्दों में, सामाजिक संगठन वह स्थिति है जिसमें समाज की विभिन्न इकाइयाँ अपने-अपने कार्यों के आधार पर एक-दूसरे से सम्बद्ध हो जाने के फलस्वरूप एक सन्तुलित स्थिति को उत्पन्न करती हैं।

भारतीय सामाजिक संगठन उस व्यवस्था की ओर संकेत करता है जिसके अंतर्गत भारतीय जीवन के स्थापित तथा मान्य उद्देश्यों और आदर्शों की प्राप्ति संभव होती है। इन उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए भारतीय समाज में विभिन्न व्यवस्थाओं को प्रस्थापित किया गया है। आश्रम-व्यवस्था द्वारा जीवन को चार स्तरों में बाँटकर और प्रत्येक स्तर पर कर्तव्यों के पालन का निर्देश देकर मानव-जीवन को सुनियोजित किया गया है। इसी प्रकार धर्म एवं कर्म का भारतीय समाज के संगठन में महत्वपूर्ण भूमिका है। ये सभी भारतीय समाज के प्रमुख आधार हैं, और इन सबका सम्मिलित रूप भारतीय सामाजिक संगठन को विशिष्टता प्रदान करने में महत्वपूर्ण भूमिका है। इस अध्याय में भारतीय सामाजिक संगठन की प्रमुख आधार या तत्व के रूप में आश्रम व्यवस्था की विवेचना की जायेगी।

3.1 उद्देश्य

इस इकाई में आश्रम व्यवस्था का विस्तृत अध्ययन किया गया है। इस इकाई का प्रमुख उद्देश्य भारतीय समाज के आधार: आश्रम व्यवस्था तथा समाज में उनके महत्व को समझना है। इस इकाई के अध्ययन के पश्चात आप आश्रम व्यवस्था की अवधारणा को समझ सकेंगे।

3.2 आश्रम व्यवस्था

हिन्दू संस्कृति के परम आदर्श के अनुसार जीवन का उद्देश्य केवल जीना ही नहीं, बल्कि इस रूप में जीवन यापन करना है कि इस जीवन के पश्चात् जन्म और मृत्यु के चक्र से छुटकारा मिल जाये-परमब्रह्मा या मोक्ष की प्राप्ति सम्भव हो। परन्तु इस परमगति की प्राप्ति के पथ पर जीवन की कमियों से उत्पन्न बाधाओं को अस्वीकार नहीं किया जा सकता। जीवन जड़ नहीं, गतिशील है इसलिए यह आवश्यक है कि उस गति को उचित ढंग से इस भांति नियमित किया जाये कि जीवन का अन्तिम लक्ष्य अर्थात् परमब्रह्मा या मोक्ष की प्राप्ति सरल और सम्भव हो सके। इसके लिए सुविचारित, क्रमबद्ध व व्यवस्थित जीवन व्यवस्था की आवश्यकता है जिससे मनुष्य का जीवन धीरे-धीरे सुनिश्चित रूप में तथा एक स्तर से, दूसरे स्तर को पहुँचता हुआ अन्त में अपने परम प्राप्य और परम पद पर पहुँच सके। यह योजना ही आश्रम-व्यवस्था है, अर्थात् आश्रम-व्यवस्था मानव-जीवन को नियमित व व्यवस्थित करने का वह कार्यक्रम है जो उसके जीवन को चार भागों में इस प्रकार विभाजित करता है कि पहले वह ज्ञान की प्राप्ति करे, फिर संसार के सुख-दुःख को भोगे, तदनन्तर सांसारिक झंझटों से अपने को दूर रखकर ईश्वरीय ज्ञान प्राप्त करे तथा अन्त में उसी परम सत्य की खोज में अपना सब कुछ समर्पित कर उसी में एकाकार हो जाने के लिए प्रयत्नशील हो।

3.2.1 आश्रम का अर्थ एवं परिभाषा

‘आश्रम’ शब्द संस्कृत के ‘श्रमुत्पसि’ धातु से बना है जिसका अर्थ है प्रयास करना या परिश्रम करना। श्री पी० एन० प्रभु ने आश्रम का अर्थ बताते हुए कहा है, “आश्रमों को जीवन के अन्तिम लक्ष्य मोक्ष की प्राप्ति के लिए मानव द्वारा की जाने वाली जीवन-यात्रा के मध्य के विश्राम-स्थल मानना चाहिए।”

वैदिक आर्यों ने मनुष्य के वैयक्तिक जीवन की चार अवस्थाएँ अथवा आश्रम माने हैं ये अवस्थाएँ (1) बाल्यावस्था, (2) यौवनावस्था, (3) प्रौढ़ावस्था, (4) वृद्धावस्था हैं। अपने जीवन की प्रत्येक अवस्था में मनुष्य आगे बढ़ने के लिए स्वयं को समर्थ बनाता है। मनुष्य की औसत आयु 100 वर्ष मानकर इन चारों अवस्थाओं में से प्रत्येक की अवधि 25-25 वर्ष नियत की गयी है। इस प्रकार, ‘आश्रम’ मानव-जीवन की एक विशिष्ट अवस्था का बोध कराता है-इस अवस्था में व्यक्ति एक निश्चित अवधि के दौरान जीवन के कतिपय आदर्शों और लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए जी-तोड़ ‘श्रम’ अथवा ‘यत्न’ करता है।

3.2.2 आश्रम-व्यवस्था का अभिप्राय

वास्तव में आश्रम-व्यवस्था प्राचीन आर्यों की वह व्यवस्था है जिसके अन्तर्गत जीवन को चार भागों या अवस्थाओं में विभक्त कर दिया गया। इन चारों अवस्थाओं में से प्रत्येक अवस्था को ‘आश्रम’ में प्रवेश करने के लिए अपनी नैतिक, शारीरिक तथा मानसिक क्षमताओं का विकास करता है ताकि अगले आश्रम में अर्न्तनिहित नये उत्तरदायित्व की पूर्ति में कोई कठिनाई न हो। इस प्रकार, पी० एन० प्रभु के अनुसार, “आश्रम व्यवस्था मानव जीवन को नियोजित व नियन्त्रित करने की वह परियोजना

है जिसके द्वारा मनुष्य को ज्ञान या शिक्षा तथा गृहस्थ जीवन के सुख व सुविधाओं से वंचित न करते हुए मोक्ष के पथ पर ले जाना सरल व सम्भव हो।

3.2.3 आश्रम व्यवस्था का प्रकार

आश्रम व्यवस्था में चार आश्रम के आश्रम होते थे जिनका विवरण निम्नलिखित है।

3.2.3.1 ब्रह्मचर्याश्रम

ब्रह्मचर्याश्रम जीवन की प्रथम अवस्था का द्योतक है। 'ब्रह्मचर्य' शब्द दो शब्दों से मिलकर बना है- 'ब्रह्म' तथा 'चर्य'। 'ब्रह्म' अर्थ है महान तथा 'चर्य' का अर्थ है विचरण करना। इस प्रकार ब्रह्मचर्य का अर्थ हुआ ऐसे मार्ग पर चलना जिससे मनुष्य शारीरिक, मानसिक तथा आध्यात्मिक दृष्टि से महान् हो सके। कुछ लोग 'ब्रह्मचर्य' का अर्थ केवल लैंगिक संयम समझते हैं, परन्तु यह तो ब्रह्मचर्य का सिर्फ एक पहलू है। वास्तव में ब्रह्मचर्य क्षुद्रता से महत्ता की ओर या साधारण से महान् होने की साधना या प्रयत्न है।

उपनयन (जनेऊ) संस्कार के उपरान्त बालक जीवन के प्रथम आश्रम- ब्रह्मचर्याश्रम में प्रवेश करता है। उपनयन संस्कार विभिन्न वर्णों में अलग-अलग आयु में करने का निर्देश है, जैसे-ब्राह्मणों का उपनयन संस्कार आठ से दस वर्ष की आयु में, क्षत्रियों का दस से चौदह वर्ष की आयु में और वैश्यों का बारह से सोलह वर्ष की आयु में सम्पन्न होता है। उपनयन संस्कार के बाद बालक को विद्याध्ययन हेतु गुरुकुल में जाकर रहना पड़ता है। शूद्रों को गुरुकुल में जाने की आज्ञा नहीं है। गुरुकुल में रहने का अधिकारी वह तब होता है जब गुरु के द्वारा उसका दीक्षा संस्कार कर दिया जाता है। और गुरु उसे अपने शिष्य के रूप में ग्रहण कर लेते हैं। ब्रह्मचर्याश्रम में वह तब तक रहता है जब तक कि वह 25 वर्ष की आयु प्राप्त नहीं कर लेता। गुरुकुल या गुरु के आश्रम में ब्रह्मचारी को

अत्यन्त सरल, पवित्र तथा सदाचार का जीवन व्यतीत करना पड़ता है और एकाग्र मन से ज्ञानार्जन में जुटा रहना पड़ता है। इस अवस्था में ब्रह्मचारी धार्मिक ग्रन्थों का अध्ययन करके अपने को ऋषि-ऋण से मुक्त करता है और अपनी परम्परा व संस्कृति के सम्बन्ध में ज्ञान प्राप्त करता है।

3.2.3.2 गृहस्थाश्रम

ब्रह्मचर्याश्रम में आवश्यक तैयारी करने के पश्चात् मनुष्य को गृहस्थाश्रम में प्रवेश करने का निर्देश है। शास्त्रकारों की दृष्टि में यह आश्रम सभी आश्रमों से अधिक महत्वपूर्ण तथा अन्य सभी आश्रमों का आधार है। गृहस्थाश्रम का आरम्भ विवाह-संस्कार के साथ होता है। गृहस्थाश्रम में रहते हुए व्यक्ति अपने जीवने के अनेक ऋणों को चुकाने का प्रयत्न करता है। जिन पाँच यज्ञों (ब्रह्मयज्ञ, पितृयज्ञ, देवयज्ञ, भूतयज्ञ और नृयज्ञ) को करना प्रत्येक मनुष्य के लिए आवश्यक माना गया है उनमें से अन्तिम चार यज्ञों का पालन गृहस्थाश्रम में ही किया जाता है क्योंकि इन यज्ञों जानवर, पशु-पक्षी, अपाहिज मनुष्यों तथा अतिथियों को भोजन कराया जाता है और इस कार्य में पत्नी की सहायता आवश्यक है।

गृहस्थाश्रम में रहते हुए गृहस्थ को अन्य अनेक प्रकार के कार्यों को भी करना पड़ता है और उनमें से सबसे प्रमुख कार्य गृहस्थ पर निर्भर रहने वाले व्यक्तियों का पालन-पोषण करना है। माता-पिता, गुरु, पत्नी, सन्तान, शरण में आये हुए असहाय व्यक्ति, अतिथि आदि का भरण-पोषण करना प्रत्येक गृहस्थ का पवित्र कर्तव्य है। इस कर्तव्य को न निभाने पर व्यक्ति को नरक में जाना पड़ता है।

3.2.3.3 वानप्रस्थाश्रम

पचास वर्ष की आयु तक गृहस्थाश्रम धर्म का पालन करने के पश्चात् व्यक्ति वानप्रस्थाश्रम में प्रवेश करता है। अर्थ (धन सम्बन्धी) तथा काम (वैवाहिक सुख) की इच्छा की पूर्ति करने के बाद घर

या परिवार को त्यागकर वनों या पर्वतों की शरण में जाकर अपनी स्त्री के साथ या बिना स्त्री के किसी कुटिया में सादा जीवन व्यतीत करना तथा वेदों और उपनिषदों का अध्ययन करना वानप्रस्थी का कर्तव्य होता है। इस आश्रम में व्यक्ति यज्ञों का आयोजन करके अपने को देव-ऋण से मुक्त करता है। वास्तव में व्यक्ति इस आश्रम में ही इहलोक की सभी इच्छाओं, कामनाओं तथा लोभ से अपने को अलग करने, परलोक को सुधारने तथा मोक्ष-प्राप्ति के लिए रास्ता तैयार करने के लिए संयमी जीवन व्यतीत करना आरम्भ कर देता है।

मनुस्मृति में कहा गया है कि जब मनुष्य यह देखे कि उसके शरीर की त्वचा शिथिल या ढीली पड़ गयी है, बाल पक गये हैं, पुत्र के भी पुत्र हो गये हैं तब वह विषयों (सांसारिक सुखों) से रहित होकर वन का आश्रय ले, वहीं पर वह अपने को मोक्ष-प्राप्ति के लिए तैयार कर सकता है। इस आश्रम में व्यक्ति को अत्यन्त संयम से रहना चाहिए। मनु के अनुसार वानप्रस्थी को वेदाभ्यासी, शीत-धूप को सहन करने वाला, उपकार व सेवा की भावना से पूर्ण, ज्ञान को वितरित करने वाला, काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि से विमुक्त तथा प्राणियों पर दया करने वाला होना चाहिए। वानप्रस्थी को अपने तप की वृद्धि के लिए आवश्यक प्रयास करना चाहिए, उसमें कष्ट सहने की शक्ति भी अधिक होनी चाहिए। इसके लिए ग्रीष्म ऋतु में आग जलाकर बैठना चाहिए, गर्मी में तेज धूप में, वर्षा ऋतु में खुले आकाश के नीचे खड़ा रहना चाहिए। संक्षेप में, उसे इस प्रकार के सभी प्रयत्नों को करना चाहिए जिससे तप आध्यात्मिक शक्ति का उसमें निरन्तर विकास होता रहे और उसके लिए मोक्ष का पथ प्रशस्त हो या खुल जाये।

3.2.3.4 सन्यासाश्रम

75 वर्ष की आयु तक वानप्रस्थाश्रम में निवास करने के पश्चात् मनुष्य को अंतिम रूप में सन्यासाश्रम में प्रवेश करने का निर्देश है। इस आश्रम में वह एकाकी व परिवार जक (साधु) का जीवन व्यतीत

करता है और सब कुछ त्याग देता है। इसी अवस्था में व्यक्ति मोक्ष-प्राप्ति करने के लिए चरम प्रयास करता है और उसके लिए उसे सभी प्रकार के लोभ, काम और इच्छाओं से दूर रहना पड़ता है। सन्यासी के दस कर्तव्य होते हैं-भिक्षा से भोजन चलाना, चोरी न करना, बाह्य तथा भीतरी पवित्रता बनाये रखना, लालची न होना, क्रोध न करना, ब्रह्मचर्य का पालन करना, दया करना, प्राणियों के साथ क्षमाशील होना, क्रोध न करना, गुरु की सेवा करना और सत्य बोलना। संक्षेप में इस आश्रम में व्यक्ति के सभी सांसारिक बंधन छूट जाते हैं और वह एकाग्रचित होकर मोक्ष की प्राप्ति का प्रयास करता है।

बोध प्रश्न-1

i) 'आश्रम' शब्द का अर्थ स्पष्ट कीजिए।

.....

.....

.....

ii) आश्रम व्यवस्था में कितने आश्रमों की बात की गई है?

.....

.....

.....

iii) वैदिक आर्यों ने मनुष्य के वैयक्तिक जीवन की कौन-कौन सी अवस्थाएँ बताई हैं?

.....

.....

.....

3.3. आश्रम व्यवस्था का सामाजिक या समाजशास्त्रीय महत्व

जैसा कि पहले ही स्पष्ट किया जा चुका है, आश्रम-व्यवस्था प्राचीन आर्यों की सुविचारित योजना भी जिसमें मानव के सम्पूर्ण जीवन को वैज्ञानिक ढंग से नियमित करने व संचालित करने का प्रयत्न किया गया था। वास्तव में जीवन को समुचित रूप से व्यवस्थित करने के लिए इस बात की आवश्यकता होती है कि असीम बुद्धि व शक्ति को अनुभवी हाथों द्वारा यथोचित ज्ञान प्रदान करके उचित दिशा में मोड़ा जाये, प्रौढ़ की घटती हुई शक्ति को समय के कठोर बन्धनों से रोककर उसके अनुभवों का समाज को यथेष्ट लाभ दिलाया जाये और वृद्ध के जर्जर शरीर में आत्मशक्ति को वह स्रोत प्रस्फुटित किया जाये जिसमें घुलमिलकर समस्त मानव-जीवन शान्ति का अनुभव कर सके। भारतीय समाजदृष्टियों ने जीवन की इन्हीं अनिवार्य आवश्यकताओं की वैज्ञानिक पूर्ति के लिए आश्रम व्यवस्था की योजना बनायी थी।

सामाजिक दृष्टिकोण से भी आश्रम-व्यवस्था का कुछ कम महत्व नहीं है। वास्तव में यह व्यवस्था परमार्थ की व्यवस्था है। अर्थात् इसमें व्यक्ति को दूसरों के हितों को अधिक महत्व देने का निर्देश दिया गया है। गृहस्थाश्रम में प्रवेश करने के साथ ही व्यक्ति दूसरों के लिए जीना सीखता है दूसरों को खिलाकर तब कहीं खुद खाता है। उसके भोजन में केवल उसके परिवार के लोगों का ही हिस्सा नहीं है, बल्कि अतिथि, पथिक, रोगी, पशु-पक्षी, कीट-पतंग, तक का हिस्सा है। पंच महायज्ञ को प्रत्येक गृहस्थी का प्रधान एवं आवश्यक कर्तव्य समझा जाना इसी बात का द्योतक है। वानप्रस्थाश्रम परमार्थता (दूसरों की भलाई) की उच्चतर अवस्था है। इस आश्रम में निवास करते हुए व्यक्ति पंच महायज्ञों को तो करता ही है, साथ ही उपदेश और अध्यापन के माध्यम से संचित अनुभव द्वारा समाज की सेवा करता है। उसकी कुटिया 'गुरुकुल' होती है जहाँ समाज की भावी पीढ़ी के व्यक्तित्व व चरित्र-निर्माण का सम्पूर्ण दायित्व वानप्रस्थी अपने ऊपर लेता है। सामाजिक दृष्टिकोण से

इस सेवा का महत्व पृथक रूप से समझाने की आवश्यकता नहीं है। इसके अतिरिक्त वानप्रस्थी गृहस्थ के लिए निर्देशक का काम करता है। वानप्रस्थी के परामर्श व अनुभव से लाभ उठाकर गृहस्थ लोग अपनी जटिल समस्याओं को हल कर सकते हैं। अन्त में वानप्रस्थी सन्यासाश्रम में प्रवेश करता है, केवल अपने मोक्ष के लिए नहीं अपितु संसार के सभी लोगों को मोक्ष दिलाने के लिए।

3.4 सारांश

भारत संस्कृति एवं परम्पराओं का देश है। विश्व में आज भी भारतीय संस्कृति एवं परम्पराओं की विशिष्ट पहचान है। भारतीय संस्कृति की इस विशिष्टता का प्रमुख कारक भारतीय सामाजिक संगठन है। भारतीय सामाजिक संगठन का अर्थ भारतीय समाज में पायी जाने वाली उस सन्तुलित या व्यवस्थित स्थिति से है जो इस समाज की विभिन्न इकाइयों के अपने-अपने स्थान पर रहते हुए पूर्व निश्चित कार्यों को करने के फलस्वरूप उत्पन्न होती है। अतः भारतीय सामाजिक संगठन को व्यवस्थित एवं संगठित करने के लिए समाज में अनेक सामाजिक व्यवस्थाओं को स्थापित किया गया। जिसमें आश्रम व्यवस्था का विशेष महत्व है। आश्रम व्यवस्था जहाँ एक ओर समाज को संगठित रखने में अपनी विशेष भूमिका का निर्वहन करती है वहीं दूसरी ओर व्यक्ति के भीतर आध्यात्मिकता को भी बढ़ावा देने का कार्य करती है। आश्रम-व्यवस्था द्वारा जीवन को चार स्तरों में बाँटकर और प्रत्येक स्तर पर कर्तव्यों के पालन का निर्देश देकर मानव-जीवन को सुनियोजित किया गया है। ये सभी भारतीय समाज के प्रमुख आधार हैं, और इन सबका सम्मिलित रूप भारतीय सामाजिक संगठन को विशिष्टता प्रदान करने में महत्वपूर्ण भूमिका है।

3.5 पारिभाषिक शब्दावली

आश्रम- आश्रम' शब्द संस्कृत के 'श्रमुतपसि' धातु से बना है जिसका अर्थ है प्रयास करना या परिश्रम करना।

आश्रम व्यवस्था-आश्रम व्यवस्था मानव जीवन को नियोजित व नियन्त्रित करने की वह परियोजना है जिसके द्वारा मनुष्य को ज्ञान या शिक्षा तथा गृहस्थ जीवन के सुख व सुविधाओं से वंचित न करते हुए मोक्ष के पथ पर ले जाना सरल व सम्भव हो।

3.6 अभ्यासार्थ प्रश्न के उत्तर

बोध प्रश्न-1

- i) 'श्रमुतपसि'
- ii) चार आश्रमों की
- iii) (1) बाल्यावस्था, (2) यौवनावस्था, (3) प्रौढ़ावस्था, (4) वृद्धावस्था हैं

3.7 संदर्भ ग्रंथ

पी0 एच0 प्रभु: हिन्दु समाज की व्यवस्था

राम अहूजा: भारतीय समाज

राधाकृष्णन: धर्म और समाज

राधाकमल मुखर्जी: भारतीय समाज विन्यास

3.8 सहायक उपयोगी पाठ्य सामग्री

बोस, एन. के. , 1967, कल्चर एण्ड सोसाइटी इन इंडिया, एशिया पब्लिशिंग हाउस, बम्बई।

दोषी व जैन, 2009, भारतीय समाज-संरचना एवं परिवर्तन, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली।

मदान टी. एन. (संपा) , 1991, रिलिजन इन इंडिया, ऑक्सफोर्ड युनिवर्सिटी प्रेस, नई दिल्ली।

मजूमदार एम. टी., 1979, इंडियन रिलीजियस हेरीटेज: ए कल्चरल हिस्ट्री ऑफ इंडिया, एलाइड पब्लि० प्रा० लि०, नई दिल्ली।

3.8 निबंधात्मक प्रश्न

1. आश्रम व्यवस्था से आप क्या समझते हैं? आश्रम व्यवस्था के प्रकारों का वर्णन कीजिए।
2. हिन्दू सामाजिक व्यवस्था में आश्रम व्यवस्था के महत्व व्याख्या कीजिए।

इकाई-04

धर्म एवं कर्म

Dharma & Karma

इकाई की संरचना

- 4.0 प्रस्तावना
- 4.1 उद्देश्य
- 4.2 धर्म
 - 4.2.1 धर्म का अर्थ
 - 4.2.2 धर्म के मौलिक लक्षण या विशेषताएँ
 - 4.2.3 धर्म का उद्भव या धर्म की उत्पत्ति के सिद्धान्त
 - 4.2.3 धर्म का समाजशास्त्रीय महत्व
- 4.3 कर्म
 - 4.3.1 कर्म का अर्थ
 - 4.3.2 कर्म तथा पुनर्जन्म का सिद्धान्त
 - 4.3.3 कर्म के प्रकार
 - 4.3.4 कर्म तथा पुनर्जन्म का सिद्धान्त
 - 4.3.5 कर्म सिद्धान्त का समाजशास्त्रीय महत्व
- 4.4 सारांश
- 4.5 पारिभाषिक शब्दावली
- 4.6 अभ्यासार्थ प्रश्न के उत्तर

4.7 संदर्भ ग्रन्थ

4.8 सहायक उपयोगी पाठ्य सामग्री

4.9 निबंधात्मक प्रश्न

4.0 प्रस्तावना

भारतीय संस्कृति के आधारभूत वैचारिक प्रमुख तत्वों में धर्म और कर्म भी हैं। ये व्यक्ति के जीवन के लक्ष्यों को स्पष्ट करते हैं। उन लक्ष्यों की प्राप्ति के साधनों को मर्यादित करते हैं। जीवन के विभिन्न स्तरों पर व्यक्ति को उसके सामाजिक दायित्वों का बोध भी कराते हैं। भारतीय सामाजिक विरासत में किसी व्यक्ति को चाहे वह साधारण हो या असाधारण के जीवन की सार्थकता दायित्वों के वहन किये बिना संभव नहीं है। यही धर्मानुकूल आचरण है। इसके अलावा जीवन यापन करना धर्मानुकूल आचरण नहीं है। जो धर्मानुकूल नहीं है वह अधर्म है। धर्म के धातुगत अर्थ से स्पष्ट है कि धर्म एक धारक तत्व है- “धारणाद्धर्म मित्याहुः धर्मो धारयते प्रजाः” (महाभारत)। डॉ. राधाकृष्ण ने लिखा है- धर्म सम्पूर्ण विश्व का ‘सत्’ है- उसकी प्राणवान शक्ति है। यह अखिल ब्रह्माण्ड के अस्तित्व का आधार है। विश्व के रूप का विनाश हो सकता है परन्तु विश्व की सत्ता का भाव विपरिलोप कदापि संभव नहीं है। ‘विश्व की सत्ता का भाव’ धर्म का अर्थ-द्योतक है। इस दृष्टि से धर्म अनश्वर है। धर्म को उपनिषद की मूलसत्ता से उपमित किया जा सकता है। यह मूलसत्ता त्रिकालाबाधित है, क्योंकि भूत, वर्तमान और भविष्य में अखण्डित एवं अकाट्य है। जो त्रिकालाबाधित है वहीं सत्य है-‘त्रिकालाबाध्यत्वं सत्यत्वं’। ‘मूलसत्ता’ के रूप में धर्म ही सत्य है और उस पर अवस्थित जागतिक प्रपंच असत्य है। मानवता मनुष्य का धर्म है और नैतिक व्यवस्था समाज का। मानवता के अभाव में मनुष्य पशु हो जाता है और नैतिक व्यवस्था के अभाव में समाज

आदिम बर्बरता में परिणित हो जाता है। इस प्रकार धर्म की उपेक्षा करने से मनुष्य और समाज दोनों अपनी संज्ञा खो बैठते हैं और प्रकारान्तर में अपनी हत्या कर डालते हैं।

कर्म शब्द संस्कृत की 'कृ' धातु से बना है जिसका अर्थ करना, व्यापार, व्यवहार, हलचल, चेष्टा है। कर्म सिद्धांत के अन्तर्गत प्रत्येक क्रिया कर्म मानी जाती है। कर्म अंतिम घटक मनुष्य की शक्ति के अतिरिक्त एक शक्ति है। यह एक सार्वभौम तत्व है जो कार्य के परिवर्तन की पृष्ठभूमि में सदा विद्यमान रहता है और इसी के कारण कर्मफल का निर्णय कर्म के रूप में अथवा पुरस्कार के रूप में होता है। कर्म सिद्धांत मूलरूप से इस बात की व्याख्या करता है कि संसार में विषमता को किन कर्मों से सुख और किन कर्मों से दुःख की प्राप्ति होती है। कर्म के सिद्धांत धर्मशास्त्र, आचारशास्त्र, नीतिशास्त्र और अध्यात्मविद्या से काफी घनिष्ठ संबंध हैं।

4.1 उद्देश्य

इस इकाई में धर्म और कर्म का विस्तृत अध्ययन किया गया है। इस इकाई का प्रमुख उद्देश्य भारतीय समाज में धर्म और कर्म के सिद्धांत एवं उनके महत्व को समझना है। इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् आप धर्म एवं कर्म के विषय में समझ सकेंगे।

4.2 धर्म

भारतीय सामाजिक संगठन की एक बहुत बड़ी विशेषता यह रही है, कि इसमें जीवन के अन्य क्षेत्रों की उपेक्षा न करते हुए धार्मिक जीवन की प्रधानता रही है। वस्तुतः प्राचीन काल में भारतीय जीवन के प्रायः सभी क्षेत्रों में धर्म का प्रबल्य था और आज भी इन सभी पर उसकी स्पष्ट छाप देखने को मिलती है।

4.2.1 धर्म का अर्थ

धर्म के अर्थ को ‘रिलिजन’ शब्द के अनुवाद के रूप में नहीं समझा जा सकता। धर्म एक अत्यन्त व्यापक अवधारणा है। धर्म उस मौलिक शक्ति के रूप में जाना जा सकता है जो भौतिक और आध्यात्मिक अवस्था का आधार रूप है जो उस व्यवस्था को बनाये रखने के लिये आवश्यक है।

- गिल्लिन और गिल्लिन, ने धर्म को परिभाषित करते हुए लिखा है, “एक सामाजिक समूह में व्याप्त उनके संवेगात्मक विश्वासों को जो किसी अलौकिक शक्ति से सम्बन्धित हैं और साथ ही ऐसे विश्वासों से सम्बन्धित प्रकट व्यवहारों, भौतिक वस्तुओं एवं प्रतीकों को धर्म के समाजशास्त्रीय क्षेत्र में सम्मिलित माना जा सकता है।”
- फ्रेजर के अनुसार, “धर्म मनुष्य से उच्चतर शक्तियों में विश्वास और उन्हें शांत या प्रसन्न करने की कोशिश है।”
- दुर्खीम के अनुसार, “धर्म पवित्र चीजों से जुड़े हुए विश्वासों और कर्मकांडों की एक संगठित व्यवस्था है अर्थात् ऐसी चीजें जो अलग हैं और जिन्हें करने की मनाही है, विश्वास और कर्मकांड एक अखंड नैतिक समुदाय में अपने सभी मानने वालों को संगठित करते हैं।”

‘रिलीजन’ शब्द के अन्तर्गत अलौकिक विश्वास एवं अधिप्राकृतिक शक्तियाँ आती हैं, परन्तु हिन्दू धर्म का सम्बन्ध मुख्यतः मनुष्य के कर्तव्य-बोध से है। हिन्दू धर्म एक ज्ञान है जो अलग-अलग परिस्थितियों में व्यक्तियों के विभिन्न कर्तव्यों को बतलाता है, उन्हें कर्तव्य पथ पर चलते रहने की प्रेरणा प्रदान करता है।

4.2.2 धर्म के मौलिक लक्षण या विशेषताएँ

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर धर्म के निम्नलिखित मौलिक लक्षणों या विशेषताओं का उल्लेख किया जा सकता है।

1. किसी सर्वश्रेष्ठ अलौकिक शक्ति पर विश्वास।
2. इस शक्ति पर विश्वास के साथ-साथ उस शक्ति के प्रति श्रद्धा, भक्ति एवं प्रेम की भावना।
3. पवित्रता की धारणा धर्म की एक अन्य विशेषता है।
4. प्रार्थना, पूजा या आराधना भी धर्म की एक मौलिक विशेषता है।
5. धार्मिक क्रियाओं में अलग-2 धर्मों में अलग-अलग धार्मिक सामग्रियों, धार्मिक प्रतीकों, पौराणिक कथाओं आदि का समावेश रहता है।

4.2.3 धर्म का उद्भव या धर्म की उत्पत्ति के सिद्धान्त

यह एक महत्वपूर्ण प्रश्न है जो स्वाभाविक रूप से उठता है कि आखिर धर्म का जन्म एक संस्था के रूप में कैसे हुआ। प्रश्न का उत्तर देने के लिए हम यहाँ धर्म की उत्पत्ति के विभिन्न सिद्धान्तों की विवेचना करेंगे।

मैक्समूलर का प्रकृतिवाद का सिद्धान्त - मैक्समूलर धर्म की उत्पत्ति के सम्बन्ध में प्रकृतिवाद के समर्थक है इनका कहना था कि समाज में धर्म की उत्पत्ति का मौलिक कारण प्राकृतिक परिस्थितियाँ हैं जिनसे ऊबकर मनुष्य ने उसके सामने नतमस्तक होकर उनकी पूजा शुरू कर दी, जिसके कारण वहीं पूजा धर्म के रूप में विकसित हो गई। इसके दो प्रमुख कारण हैं-

1. मनुष्य का प्राकृतिक परिस्थितियों से घिरा होना व उनका प्रभाव।
2. मनुष्य में ज्ञान का अभाव या उसी के अनुरूप चिंतन-प्रक्रिया का निर्माण।

आदिम समाजों में इसी कारण टोटम की व्यवस्था पायी जाती है। जिसे जनजाति के लोग अपना ईश्वर समझते हैं।

टायलर एवं स्पेन्सर का आत्मावाद का सिद्धान्त - टायलर के अनुसार धर्म की उत्पत्ति आत्मा पर विश्वास एवं उसके भय के कारण हुई है। इनका कहना है कि धर्म का आधार बिन्दु आत्मा पर विश्वास करना है। आदिम मनुष्यों में यह विश्वास था कि मनुष्य की आत्मा अजर-अमर है, मृत्यु के बाद भी इसका अस्तित्व बना रहता है, जो मनुष्य को प्रभावित करती है। इस प्रकार आदिम मनुष्यों ने धर्म की उत्पत्ति का मूल कारण 'आत्मा पर विश्वास' माना है।

मैरेट एवं प्रीअस का जीवित सत्तावाद - इस सिद्धान्त के अनुसार धर्म की उत्पत्ति का कारण 'आत्मा' नहीं वरन् 'माना' है। 'माना' एक प्रकार की ऐसी शक्ति है जो सर्वोच्च है तथा जो व्यक्ति एवं समाज को प्रभावित करती है। अगर 'माना' खुश है तो मनुष्य का कल्याण है, लेकिन अगर वह नाराज हो गयी तो मनुष्य को नुकसान पहुँचाती है। इसलिए 'माना' को खुश रखना चाहिए, जिसके कारण उस माना की पूजा, आराधना इत्यादि से धर्म का विकास हुआ।

दुर्खीम का सामाजिक सिद्धान्त - धर्म की उत्पत्ति के कारणों की खोज दुर्खीम ने समाज के भीतर ही की है। टोटम सामूहिक प्रतिनिधित्व, पवित्रता एवं नैतिकता की धारणा की वजह से समाज में धर्म का विकास हुआ है। दुर्खीम का कहना है कि समूह जिसे पवित्र मानता है उसकी रक्षा करता है तथा अपवित्र वस्तुओं से दूर रहने का प्रयास करता है। इस प्रकार समाज में नैतिक वातावरण का निर्माण होता है, जिससे धर्म का विकास हुआ।

फ्रेजर का सिद्धान्त - फ्रेजर का कहना है कि धर्म की उत्पत्ति जादू-टोना से हुई है अर्थात् धर्म की प्रारम्भिक अवस्था जादू-टोना है। आदिम मनुष्यों ने पहले पहल जादू मंत्र इत्यादि के आधार पर उन प्राकृतिक वस्तुओं को अपने वश में करना चाहा। लेकिन बाद में जब वह उन पर नियन्त्रण न कर सका तो आत्म समर्पण कर उसकी अधीनता स्वीकार की तथा पूजा, आराधना, प्रार्थना इत्यादि के आधार पर उनको खुश करना चाहा, तभी से धर्म की उत्पत्ति हुई।

4.2.4 धर्म का समाजशास्त्रीय महत्व

यद्यपि मानव ने स्वयं ही धर्म की उत्पत्ति की है, परन्तु वह स्वयं इससे नियन्त्रित भी होता है। धर्म समाज का आधार होता है। क्योंकि धर्म समाज के उच्चतम आदर्शों तथा मूल्यों को अपने अन्दर समेटकर उनकी रक्षा करता है तथा मानव में सद्गुणों का विकास करता है। धर्म अपने सदस्यों के व्यवहार पर अंकुश रखकर समाज में नियन्त्रण बनाये रखता है। धर्म केवल समाज को संगठित नहीं करता अपितु व्यक्तित्व के विकास में भी सहायक होता है। धर्म भावनात्मक सुरक्षा, सामाजिक एकता में सहायक, आर्थिक विकास में सहायक, पवित्रता की भावना को जन्म तथा कर्तव्यों का निर्धारण भी करता है। इस प्रकार से हम कह सकते हैं भारतीय समाज में धर्म अतिआवश्यक व महत्वपूर्ण संस्था है परन्तु धर्म के कुछ नकारात्मक प्रभाव भी समाज में होते हैं। उदाहरणस्वरूप, धर्म के द्वारा ही समाज में धार्मिक दंगे या साम्प्रदायिक दंगे भी होते हैं। जिससे समाज में संगठन व व्यवस्था को काफी नुकसान भी होता है।

बोध प्रश्न-1

- i) आदिम मनुष्यों ने धर्म की उत्पत्ति का मूल कारण 'आत्मा पर विश्वास' माना है।

सत्य/असत्य

ii) “धर्म मनुष्य से उच्चतर शक्तियों में विश्वास और उन्हें शांत या प्रसन्न करने की कोशिश है।”

यह कथन किसका है?

4.3 कर्म

भारतीय सामाजिक संगठन की एक अन्य महत्वपूर्ण विशेषता या आधार कर्म का सिद्धान्त है। इस सिद्धान्त के अनुसार मानव-जीवन का सबसे प्रमुख उद्देश्य ‘कर्म’ (कार्य) करना है। इस सिद्धान्त के अन्तर्गत यह विश्वास किया जाता है कि मनुष्य को अपने भाग्य पर भरोसा रखकर अकर्मण्य नहीं हो जाना चाहिए। साथ ही, मनुष्य का भाग्य भी उसके ‘कर्मों’ के सन्दर्भ में ही निर्मित होता है।

4.3.1 कर्म का अर्थ

कर्म शब्द की व्युत्पत्ति ‘कृ’ धातु से हुई है, जिसका अर्थ है ‘करना’, ‘व्यापार’ या ‘हलचल’। इस अर्थ की दृष्टि से मनुष्य जो कुछ करता है, वह सब ‘कर्म’ के अन्तर्गत आता है, खाना, पीना, सोना, उठना, बैठना, चलना, विचार या इच्छा करना, आदि सब कार्य गीता के अनुसार ‘कर्म’ की श्रेणी में आते हैं। इसका तात्पर्य यह है कि मनुष्य द्वारा किया गया प्रत्येक कार्य ‘कर्म’ है।

4.3.2 कर्म के प्रकार

कर्म तीन प्रकार के होते हैं-(1) संचित कर्म, (2) प्रारब्ध कर्म (3) क्रियमाण या संचियमान कर्म। संचित कर्म के अन्तर्गत वे कर्म आते हैं जो व्यक्तियों द्वारा पूर्व जन्म में किये गये हैं। इन पूर्व कर्मों में से जिन कर्मों का फल व्यक्ति को वर्तमान जीवन में भोगना पड़ता है, उन्हें ‘प्रारब्ध कर्म’ कहा जाता है। व्यक्ति द्वारा इस जीवन में किया जा रहा कर्म ‘क्रियमाण कर्म’ कहा जाता है। व्यक्ति का आगामी जीवन संचित और क्रियमाण कर्म पर निर्भर करता है। कर्म तो पुनर्जन्म के सम्पूर्ण चक्र से सम्बन्धित है।

4.3.3 कर्म तथा पुनर्जन्म का सिद्धान्त

कर्म और पुनर्जन्म दो पृथक सिद्धान्त नहीं होकर एक ही सिद्धान्त है तथा इनके बीच कार्य-कारण सम्बन्ध पाया जाता है। वेदों में स्पष्टतः कहा गया है कि आत्मा अमर है, परन्तु शरीर नाशवान है। व्यक्ति का उस समय तक पुनः जन्म होता रहता है, जब तक कि वह अमरत्व को प्राप्त नहीं कर ले, अपने को ब्रह्म में विलीन नहीं कर ले। उपनिषदों में सर्वप्रथम कर्म तथा पुनर्जन्म की अवधारणाओं को एक सिद्धान्त का रूप दिया गया। उपनिषदों में वर्णित कर्म और पुनर्जन्म का सिद्धान्त इस बात पर जोर देता है कि व्यक्ति जो कुछ है, जो कुछ उसकी अच्छी या बुरी परिस्थितियाँ हैं, उसके लिए वह स्वयं ही उत्तरदायी है। सामाजिक शक्तियों के स्थान पर उसके स्वयं के कर्म उसकी उस दशा के लिए उत्तरदायी हैं।

कर्म और भाग्य- भारत में कर्म-सिद्धान्त भाग्यवाद का आधार रहा है। पुनर्जन्म तथा कर्म सिद्धान्त के सम्मिलित प्रभाव के फलस्वरूप व्यक्ति को एक ओर इस जन्म को पूर्वजन्मों का प्रतिफल मानकर भाग्य पर सन्तोष करने की प्रेरणा मिलती है, वहीं दूसरी ओर इससे व्यक्ति की क्रियाशीलता शिथिल हो जाती है और वह विरक्ति की ओर उन्मुख होता है।

4.3.4 कर्म सिद्धान्त का समाजशास्त्रीय महत्व

कर्म सिद्धान्त निरन्तर कर्म करते रहने और प्रगति के पथ पर आगे बढ़ते रहने की प्रेरणा प्रदान करता रहा है। यह सिद्धान्त स्वधर्म की धारणा और इस मान्यता पर आधारित है कि व्यक्ति का वर्तमान जीवन संयोग का फल नहीं है, बल्कि उसी के पूर्व जन्मों के कर्मों का परिणाम है। इस सिद्धान्त का महत्व इसी बात से स्पष्ट है कि बौद्ध और जैन धर्म भी इसके समर्थक हैं, यद्यपि हिन्दू धर्म के अनेक पक्षों के ये कटु आलोचक हैं। कर्म के सिद्धान्त ने नैतिकता के विकास में योग दिया है। कर्म के सिद्धान्त ने व्यक्तियों को मानसिक सन्तोष तथा कर्तव्य पथ पर सदैव आगे बढ़ने की प्रेरणा प्रदान की

है। कर्म के सिद्धान्त से ही समाज में संघर्षों को कम करने, सामाजिक नियन्त्रण तथा सामाजिक व्यवस्था को संगठित रखने समाज कल्याण जैसी संकल्पनाएँ सफल रही हैं। कर्म का सिद्धान्त व्यक्ति को, स्वयं को अपने भाग्य का निर्माता मानता है। कर्म का भारतीय सामाजिक संगठन में इतना महत्व होने के बाद भी इसके कुछ दुष्परिणाम भी रहे हैं। क्योंकि कर्म का भाग्यवादी होने के कारण कुछ लोग भाग्य को ही अपने जीवन का आधार मान लेते हैं। वे सोचते हैं कि पिछले जन्म में हमने जो भी कार्य किये होंगे उन्हीं का फल हमें मिलेगा।

बोध प्रश्न-2

i) भारत में भाग्यवाद का आधार कौन सा सिद्धान्त रहा है?

.....

.....

.....

ii) कर्म के कितने प्रकार होते हैं ?

.....

.....

4.4 सारांश

भारतीय संस्कृति के आधारभूत वैचारिक प्रमुख तत्वों में धर्म और कर्म भी हैं। ये व्यक्ति के जीवन के लक्ष्यों को स्पष्ट करते हैं। उन लक्ष्यों की प्राप्ति के साधनों को मर्यादित करते हैं। जीवन के विभिन्न स्तरों पर व्यक्ति को उसके सामाजिक दायित्वों का बोध भी कराते हैं। भारतीय सामाजिक विरासत में किसी व्यक्ति को चाहे वह साधारण हो या असाधारण के जीवन की सार्थकता दायित्वों

के वहन किये बिना संभव नहीं है। यही धर्मानुकूल आचरण है। इसके अलावा जीवन यापन करना धर्मानुकूल आचरण नहीं है। जो धर्मानुकूल नहीं है वह अधर्म है। कर्म सिद्धांत के अन्तर्गत प्रत्येक क्रिया कर्म मानी जाती है। कर्म अंतिम घटक मनुष्य की शक्ति के अतिरिक्त एक शक्ति है। यह एक सार्वभौम तत्व है जो कार्य के परिवर्तन की पृष्ठभूमि में सदा विद्यमान रहता है और इसी के कारण कर्मफल का निर्णय कर्म के रूप में अथवा पुरस्कार के रूप में होता है।

2.5 पारिभाषिक शब्दावली

कर्म - मनुष्य द्वारा किया गया प्रत्येक कार्य।

टोटम- जनजाति के लोग अपना ईश्वर समझते हैं।

4.6 अभ्यासार्थ प्रश्न के उत्तर

बोध प्रश्न-1

- i) सत्य
- ii) फ्रेजर

बोध प्रश्न-2

- i) कर्म-सिद्धांत
- ii) तीन प्रकार

4.7 संदर्भ ग्रंथ

पी० एच० प्रभु: हिन्दु समाज की व्यवस्था

राम अहूजा: भारतीय समाज

राधाकृष्णन: धर्म और समाज

राधाकमल मुखर्जी: भारतीय समाज विन्यास

4.8 सहायक उपयोगी पाठ्य सामग्री

बोस, एन. के. , 1967, कल्चर एण्ड सोसाइटी इन इंडिया, एशिया पब्लिशिंग हाउस, बम्बई।

दोषी व जैन, 2009, भारतीय समाज-संरचना एवं परिवर्तन, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली।

मदान टी. एन. (संपा) , 1991, रिलिजन इन इंडिया, ऑक्सफोर्ड युनिवर्सिटी प्रेस, नई दिल्ली।

मजूमदार एम. टी., 1979, इंडियन रिलीजियस हेरीटेज: ए कल्चरल हिस्ट्री ऑफ इंडिया, एलाइड पब्लि० प्रा० लि०, नई दिल्ली।

लावनिया, एम.एम. एवं जैन, शशी के., 2011, भारतीय सामाजिक संस्थाएँ, रिसर्च पब्लिकेशन, जयपुर

4.9 निबंधात्मक प्रश्न

1. कर्म के सिद्धांत की विवेचना कीजिए।
2. धर्म को परिभाषित कीजिए। धर्म के उत्पत्ति के सिद्धांत की व्याख्या कीजिए।

इकाई-5

पुरुषार्थ Purushastra

इकाई की रूपरेखा

- 5.0 प्रस्तावना
- 5.1 उद्देश्य
- 5.2 पुरुषार्थ का अर्थ
- 5.3 पुरुषार्थ के प्रकार
 - 5.3.1 धर्म
 - 5.3.2 अर्थ
 - 5.3.3 काम
 - 5.3.4 मोक्ष
- 5.4 पुरुषार्थ का महत्व
- 5.5 सारांश
- 5.6 परिभाषिक शब्दावली
- 5.7 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
- 5.8 संदर्भ ग्रंथ सूची
- 5.9 सहायक उपयोगी पाठ्य सामग्री
- 5.10 निबंधात्मक प्रश्न

5.0 प्रस्तावना

भारतीय समाज में अध्यात्मवाद को जितना अधिक महत्त्व दिया गया है उतना ही महत्त्व इस बात को भी दिया गया है कि, सांसारिक कर्तव्यों को इस प्रकार पूरा करें कि, मानव को जीवन के चरम उद्देश्य की प्राप्ति भी हो और उसके जीवन में भी सन्तुलन स्थापित हो सके। पुरुषार्थ में मानवीय गुणों का इस तरीके से समन्वय होता है कि, वह भौतिक सुख-सुविधाओं और आध्यात्मिक उन्नति के बीच में एक विशेष सन्तुलन को बनाने में सहायक होता है। शरीर, बुद्धि, मन और आत्मा की सन्तुष्टि के लिए मानव जो प्रयत्न करता है वही पुरुषार्थ कहलाता है। मानव-जीवन के चार प्रमुख उद्देश्य हैं जोकि, पुरुषार्थ के चार आधारों के रूप में प्रचलित हैं वे हैं- धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष। मोक्ष मानव-जीवन का चरम लक्ष्य है, जिसे प्राप्त करने में अर्थ, काम और मोक्ष का सहयोग आवश्यक होता है। क्योंकि, मोक्ष पाने के लिए यह आवश्यक है कि, पहले व्यक्ति का मन सांसारिक सुखों से इतना तृप्त हो जाए, भर जाए कि, वह इनसे विरक्त होकर ईश्वर के ध्यान-चिन्तन में अपना मन रमा सके, जीवन के सार-तत्त्व को समझकर निष्काम कर्म करते हुए अपने को परमात्मा के चरणों में पूरी तरह से अर्पित कर सके और जीवन-भरण के इस आवागमन चक्र से छूट सके। अतः जीवन के सर्वोच्च लक्ष्य को प्राप्त करने हेतु भारतीय परम्परा में 'पुरुषार्थ' को बहुत महत्त्व दिया गया है। जिस मानव-जीवन में धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इन चार पुरुषार्थों का समन्वय सन्तुलित रूप में है, वही पुरुषार्थ का प्रतीक है।

5.1 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के बाद आप;

धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की संकल्पनाओं पर चर्चा कर सकेंगे;

जीवन में पुरुषार्थ के महत्त्व पर चर्चा कर सकेंगे।

5.2 पुरुषार्थ का अर्थ

पुरुषार्थ का अभिप्राय उद्योग करने या किसी तरह का प्रयास करने से है। पुरुषार्थ के अर्थ को स्पष्ट करते हुए यह कहा गया है कि, 'पुरुषार्थ' इसका अर्थ है कि, अपने अभीष्ट को प्राप्त करने के लिए प्रयत्न करना ही पुरुषार्थ है। पुरुषार्थ को एक ऐसी योजना कहा गया है जो व्यक्ति के सभी कर्तव्यों और दायित्वों को तीन भागों में विभाजित करती है जिन्हें धर्म, अर्थ और काम कहा गया है। इन तीनों पुरुषार्थों का अन्तिम लक्ष्य एक ही होता है और वह है मोक्ष की प्राप्ति।

डॉ० राधाकमल मुखर्जी ने इस सन्दर्भ में अपने विचार प्रकट करते हुए कहा है कि, "वर्णों और आश्रमों के धर्मों और उत्तरदायित्वों की पूर्ति मनुष्य द्वारा चार पुरुषार्थों के आंकलन पर निर्भर करती है। भारतीय दृष्टि से जीवन के मूल्यों को चार पुरुषार्थों में बाट दिया गया है। गृहस्थ जीवन के उद्देश्य- अर्थ और काम को धर्म और मोक्ष के अधीन रखा गया है। इसमें मोक्ष ही अन्तिम ध्येय है, उसी में जीवन के सर्वोच्च और शाश्वत आदर्श की प्राप्ति होती है। इस प्रकार जीवन के सभी मूल्यों-धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष का समन्वय होता है।" इस रूप में पुरुषार्थ मानव-जीवन के एक सम्पूर्ण और सार्थक स्वरूप को प्रकट करता है।

5.3 पुरुषार्थ के प्रकार

जीवन के चार वह प्रमुख लक्ष्य जिनको प्राप्त करने के प्रयत्न किये जाते हैं वह धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष हैं। यही 'पुरुषार्थ' कहे गये हैं। पुरुषार्थ के इन चारों तत्त्वों को अधिक स्पष्टता से समझने के लिये अब हम इनकी विवेचना यहाँ पर करेंगे जो कि, पुरुषार्थ की अवधारणा को और स्पष्ट करने में सहायक होगा-

5.3.1 धर्म

उपरोक्त चारों पुरुषार्थों में धर्म का बहुत महत्वपूर्ण स्थान है। धर्म शब्द 'धृ' धातु से बना है, जिसका मतलब है वह जो किसी वस्तु को धारण करे या उस वस्तु का अस्तित्व बनाए रखने में सक्षम हो। अतः धर्म को किसी भी वस्तु का वह मूल्य-तत्त्व कहा जाता है जो उस वस्तु की यथार्थता को समझने का माध्यम बनती है, और साथ-ही-साथ उस वस्तु के अस्तित्व को भी बनाए रखती है। धर्म को कई लोगों और समाजों में अदृश्य, अलौकिक, अतिमानवीय और अतीन्द्रिय शक्तियों पर विश्वास करना भी माना जाता है। परन्तु हिन्दू धर्म में 'धर्म' शब्द को इस अर्थ से अलग अर्थ में प्रयोग किया गया है। भारतीय धर्मशास्त्रों और ग्रंथों में हमारे विचारकों ने व्यक्ति के द्वारा सभी कर्तव्यों को विभिन्न परिस्थितियों में पूरा करने को ही 'धर्म' कहा है। यह इस प्रकार भी समझा जा सकता है कि, धर्म का अर्थ नैतिक कर्तव्य, स्वभाव, करने योग्य कार्य, वस्तुओं के आंतरिक गुण, पवित्रता, आचरण का एक प्रतिमान, व्यवहार के तरीके आदि से लिया गया है। जैसे यदि गुरु का धर्म, गुरु का शिष्य के प्रति क्या कर्तव्य है और बेटे का धर्म बेटे का पिता के प्रति क्या दायित्व है, उससे इसे समझा जा सकता है। धर्म के स्थान पर पवित्र शब्द का भी कभी-कभी प्रयोग कर लिया जाता है, इसका कारण यह है कि पवित्रता आचरण की शुद्धता से सम्बन्ध रखती है इसीलिए धर्म के एक अर्थ को प्रकट भी करती है।

नैतिक कर्तव्यों की ओर संकेत करने वाला 'धर्म' मानव के नैतिक जीवन को और मूल्यों को एक व्यवस्था में बांधता है, अतः धर्म को नैतिक दायित्वों के रूप में प्रयोग किया गया है। मनु-स्मृति में धर्म के दस लक्षणों को इस प्रकार बताया है कि, धैर्य, क्षमा, दम, अस्तेय, पवित्रता, इन्द्रिय, निग्रह, बुद्धि, विद्या, सत्य और क्रोध पर नियंत्रण यह धर्म के दस मुख्य लक्षण हैं। धर्म का अर्थ पुण्य और नैतिक-व्यवस्था के रूप में भी लिया गया है। ऐसी मान्यता प्रचलित रही है कि, व्यक्ति जो भी पुण्य-

कर्म करता है वह उसकी मृत्यु के बाद भी उसका साथ देते हैं, उसके साथ ही रहते हैं। धर्म एक ऐसी शक्ति है जो व्यक्ति के अन्दर अच्छे और बुरे के विवेक को जाग्रत कर उसे यह बतलाती है कि, अच्छे काम का फल अच्छा और बुरे काम का फल भी बुरा ही होता है और सभी व्यक्ति जैसे भी कर्म करते हैं, अच्छे या बुरे, उन्हें सभी कर्मों का फल तो अवश्य ही भोगना पड़ता है, उससे बचना असम्भव है।

यह सभी जानते हैं कि, समाज में सभी व्यक्तियों के लिए एक जैसी परिस्थितियाँ नहीं होती हैं, प्रत्येक व्यक्ति को अपने जीवन में कई प्रकार की परिस्थितियों का सामना करना पड़ता है जो अन्य व्यक्तियों से अलग हो सकती हैं। ऐसी भिन्न परिस्थितियों में उन व्यक्तियों के लिए धर्म या कर्तव्य भी एक ही तरीके से परिभाषित नहीं किये जा सकते हैं। इसी को समझते हुए धर्म के तीन स्वरूपों का उल्लेख किया गया है -

1. सामान्य धर्म
2. विशिष्ट धर्म
3. आपद्धर्म

1-सामान्य धर्म - सामान्य धर्म को मानव-धर्म भी कहा जाता है। वह सभी नैतिक नियम इसके अन्तर्गत आते हैं, जिनके अनुसार आचरण या व्यवहार करना ही प्रत्येक व्यक्ति का परम कर्तव्य माना गया है। धर्म का यह स्वरूप सभी मनुष्यों में मानवीय-मूल्यों, सद्गुणों का विकास और उनकी श्रेष्ठता को जागृत करने का उद्देश्य लिये है। सम्पूर्ण मानव-जाति चाहे वह वृद्ध हो या बालक, स्त्री हो या पुरुष, गरीब हो या अमीर, राजा हो या प्रजा, गोरा हो या काला, सभी के द्वारा सामान्य धर्म का पालन करने को एक जरूरी कर्तव्य कहा गया है। इसका कारण यह है कि इस धर्म में वह सभी गुण सम्मिलित हैं जो सभी व्यक्तियों को विकास करने में सहायता प्रदान करते हैं। अहिंसा, सच्चाई,

आत्म-संयम, सन्तोष, दया, सहानुभूति, क्षमा, दैनिक जीवन में सदाचार, सृष्टि और प्राणि-मात्र के लिए उदारता, सत्कार्य, कर्तव्य-पालन आदि मानव-धर्म के व्यापक अर्थ में समाहित हैं। सभी मनुष्यों से यही आशा की जाती है कि, वह इन गुणों को अपने-आप में और अपने जीवन में विकसित कर 'धर्म' के अनुसार आचरण करें।

2. विशिष्ट धर्म- व्यक्ति को जिन कर्तव्यों का पालन समय, परिस्थिति और किसी स्थान-विशेष को ध्यान में रखते हुए निष्ठापूर्वक करना आवश्यक होता है वह विशिष्ट धर्म के रूप में जाना जाता है। सामाजिक जीवन में आयु, लिंग, वर्ण, आश्रम, देश-काल के आधार पर सभी व्यक्तियों की समाज में अलग-अलग स्थितियां होती हैं। स्त्री का धर्म पुरुष से अलग है तो वहीं पिता का धर्म, पुत्र से अलग है, गुरु का धर्म शिष्य के जैसा नहीं है तो राजा का धर्म प्रजा से अलग है। इसलिए किसी प्रकार की विशेष स्थिति में जब व्यक्ति रहता है तब इस स्थिति में रहते हुए वह जिन कर्तव्यों का पालन करता है, वह उसके विशिष्ट धर्म के अंतर्गत आते हैं। विशिष्ट धर्म को ही स्वधर्म भी कहते हैं। क्योंकि, यह सभी व्यक्तियों के लिए अलग-अलग रूपों में होता है।

3. आपद्धर्म- विपत्ति के समय या आपत्ति-काल में जब व्यक्ति अपने सामान्य और विशिष्ट धर्म से अलग हटकर परिस्थिति के अनुरूप व्यवहार करते हुए अपने धर्म का पालन करता है, तब यह आपद्धर्म कहलाता है। धर्म का यह तीसरा स्वरूप विशेष और कठिन परिस्थितियों में व्यवहार के नियमों को बताता है। रोग, शोक, विपत्ति और धर्म-संकट आदि व्यक्ति के जीवन में आने वाली कुछ ऐसी ही विकट परिस्थितियाँ हैं जिनके सामने आने पर व्यक्ति को कर्तव्यों और नियमों के पालन करने में कुछ ढील दी गई जिससे कि, व्यक्ति को उस मुश्किल समय का सामना करने में कठिनाई न हो। इस प्रकार व्यक्ति इस जीवन में और मृत्यु के बाद की स्थिति, दोनों में उन्नति कर सके, इस हेतु उससे धर्म के अनुसार आचरण करने की अपेक्षा की गई और धर्म को 'पुरुषार्थ' मानकर व्यक्ति को उसके जीवन के परम उद्देश्य को प्राप्त करने के लिए प्रेरणा दी।

5.3.2 अर्थ

यह दूसरा प्रमुख पुरुषार्थ है, जिसका संकुचित अर्थ भौतिक सुख-सुविधाओं और आवश्यकताओं को पूरा करने से लिया जाता है। परन्तु विस्तृत अर्थ में 'अर्थ' से अभिप्राय केवल धन-सम्पत्ति या मुद्रा से नहीं है, बल्कि यह उन सभी साधनों का प्रतीक है जो हमें अपनी भौतिक आवश्यकताओं को पूरा करने और अपने अस्तित्व को बनाए रखने में सहायता देते हैं। उदाहरण के तौर पर पंच महायज्ञों में पांच ऋणों को चुकाने के लिए एक व्यवस्था की गई है जिसके अंतर्गत माता-पिता, देवी-देवता, ऋषि-मुनियों, अतिथियों और प्राणी-मात्र के ऋण से मुक्त होने के लिए पितरों का पिंडदान करना, प्राणी-मात्र को भोजन कराकर स्वयं करना, अतिथि का सत्कार करना आदि सभी कार्यों के लिए 'अर्थ' की आवश्यकता पड़ती है। वैदिक-साहित्य के आधार पर श्री गोखले ने 'अर्थ' का मतलब समझाते हुए कहा है कि, "अर्थ के अन्तर्गत के सभी भौतिक वस्तुएं आ जाती हैं जो परिवार बसाने, गृहस्थी चलाने और विभिन्न धार्मिक दायित्वां को निभाने के लिए आवश्यक हैं।"

श्री जिम्मर ने 'अर्थ' का शाब्दिक अर्थ समझाते हुए इस प्रकार परिभाषित किया है कि "अर्थ की अवधारणा के अन्तर्गत वे समस्त भौतिक वस्तुएं आ जाती हैं जिन्हें हम अपने अधिकार में रख सकते हैं तथा जिनसे हम आनन्द ले सकते हैं और जो खो भी सकती हैं एवं परिवार का भरण-पोषण करने के लिए, परिवार की समृद्धि के लिये तथा धार्मिक कर्तव्यों को निभाने के लिए अर्थात् जीवन के कर्तव्यों का उचित ढंग से पालन करने के लिए जिनकी आवश्यकता होती है।"

अर्थ को प्रमुख पुरुषार्थ मानने के पीछे एक प्रमुख कारण यह रहा कि, हिन्दू-जीवन में जिन धार्मिक कार्यों को करना मनुष्य के लिए आवश्यक माना गया उन सभी को अर्थ के बिना पूरा करना सम्भव नहीं था। जब व्यक्ति अपने प्रयासों से आर्थिक जीवन में प्रवेश कर पर्याप्त अर्थ का संचय करता है तभी वह इस योग्य बनता है कि, वह विभिन्न प्रकार के यज्ञों को विधि-विधान के साथ पूरा कर सके,

दान-दक्षिणा दे सके, घर आए अतिथियों का स्वागत-सत्कार कर सके, बच्चों का समुचित पालन-पोषण कर सके और अन्य प्राणियों का हित कर सके। महाभारत में भी अर्थ के महत्त्व को बताते हुए कहा गया है कि, धर्म का सही तरीके से पालन करने के लिए अर्थ इतना अधिक आवश्यक है कि, इसके न होने पर व्यक्ति अपने दायित्वों का सही ढंग से निर्वाह नहीं कर सकता। धर्म के पालन को पूरी तरह 'अर्थ' पर आधारित माना गया है। इसी कारण गृहस्थ आश्रम में व्यक्ति को उद्यम करके 'अर्थ' को अर्जित करने पर विशेष बल दिया गया है।

अर्थ का हमारे जीवन में भले ही काफी महत्त्व हो, परन्तु उसे उचित साधनों द्वारा कमाने पर जोर दिया गया है। हिन्दुओं के आदर्शों के अनुसार यह कहा गया है कि, व्यक्ति को अपने मन में हमेशा यह याद करते रहना चाहिए कि आवश्यकताओं को पूरा करने के बाद जो धन व्यक्ति के पास बच जाता है, वह उस धन का असली मालिक/स्वामी नहीं है। बल्कि वह तो समाज की ओर से केवल उस 'धन' या 'अर्थ' का संरक्षण करने वाला है और उसे उस अर्थ की रक्षा करते हुए लोगों की भलाई से सम्बन्धित कार्यों के लिए व्यय करना चाहिए। यदि इस आदर्श का सभी व्यक्ति पालन करें तो समाज में जो विभिन्न वर्ग बने हैं, उन सभी में धन का एक-समान वितरण हो सकेगा और समाज के लिए भौतिक रूप से सुखी और सम्पन्न होना बहुत सरल हो जाएगा। यहाँ यह भी ध्यान रखना आवश्यक है कि, व्यक्ति के जीवन का एकमेव लक्ष्य केवल भौतिक सुख-सुविधाओं को प्राप्त करना और धन कमाना नहीं हो जाए, इस स्थिति से बचने के लिए अर्थ को धर्म के अधीन मानकर व्यक्ति को गृहस्थ आश्रम को छोड़कर शेष आश्रमों से पूर्णतया दूर रहने का निर्देश भी दिया गया है ताकि, व्यक्ति अपने मूल उद्देश्य से भटक न सके।

5.3.3 काम

पुरुषार्थों में तीसरे स्थान पर है 'काम', जो कि, मानव-जीवन का एक लक्ष्य माना गया है। काम के अर्थ को केवल भोग-वासना तक ही सीमित नहीं किया जा सकता है। बल्कि यह मानव की सभी इच्छाओं और कामनाओं को भी प्रकट करता है। 'काम' शब्द को संकुचित अर्थ में देखें तो इस अर्थ में यह यौन-इच्छाओं की पूर्ति से सम्बन्ध रखता है और विस्तृत अर्थ में देखने पर मनुष्य की सभी प्रवृत्तियाँ, अभिलाषाएं और इच्छायें इसमें समाहित हैं। वास्तविकता यह है कि 'मन' ही वह मूल कारक है जिससे सभी इन्द्रियाँ सहज ही प्रभावित हो जाती हैं। इस प्रकार 'काम' जीवन के आनन्द को भी व्यक्त करता है, यह आनन्द शारीरिक और मानसिक दोनों स्तरों पर प्राप्त किया जा सकता है। शारीरिक स्तर पर इस आनन्द को परिभाषित करें तो इस प्रकार के काम के अन्तर्गत वह सभी आनन्द शामिल किए जाते हैं जिनको व्यक्ति शरीर-सम्बन्ध या यौन-सम्बन्ध के द्वारा प्राप्त करता है, परन्तु आनन्द का यह स्वरूप इसकी व्याख्या करने में पूरी तरह से समर्थ नहीं है। वास्तविक आनन्द तो वह है, जिसके द्वारा व्यक्ति कलात्मक जीवन के माध्यम से मन और हृदय को भी आनन्द का उपभोग करा सके और शरीर के साथ-साथ मानसिक स्तर पर भी सुख या आनन्द का अनुभव करे।

अब तक उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट होता है कि, 'काम' के दो प्रमुख पहलू हैं। पहला मानव के यौन-जीवन से सम्बन्धित है और दूसरा पहलू उसके भावुक तथा सौन्दर्यात्मक जीवन को प्रकट करता है। पहला पहलू यह भाव व्यक्त करता है कि, मानव में यौन-सम्बन्धी इच्छाओं का पाया जाना एकदम सामान्य है। क्योंकि, यौन-इच्छा मानव की मूल-प्रवृत्तियों में से एक है। परन्तु मानव उसे ही सब कुछ न मान ले इसके लिये विवाह के तीन उद्देश्यों में 'रति' को कम महत्त्व देते हुए उसे धर्म और सन्तान की उत्पत्ति के बाद माना गया है। काम का दूसरा पहलू मानव की सृजनात्मक और सौन्दर्यपूर्ण दृष्टि से सम्बन्ध रखता है। साहित्य, संगीत, नृत्य, चित्रकला, मूर्तिकला आदि के द्वारा

व्यक्ति के उद्वेगों, भावपूर्ण और रचनात्मक प्रवृत्ति को अभिव्यक्ति मिलती है। यह अभिव्यक्ति व्यक्ति को मानसिक रूप से सन्तुलित करती है।

काम के द्वारा व्यक्ति की कामनापूर्ति होती है, जिससे वह मानसिक रूप से सन्तुष्ट रहता है। यह पति-पत्नी के बीच प्रेम का आधार, सन्तान की उत्पत्ति के द्वारा समाज की निरन्तरता को बनाए रखने में सहायक होता है। काम के द्वारा व्यक्ति पितृ-ऋण से मुक्त होकर माता-पिता को मोक्ष का अधिकारी भी बना सकता है। काम-इच्छाओं की सन्तुष्टि द्वारा ही व्यक्ति उससे विरक्त होकर आगे बढ़ता है और यह विरक्ति की भावना ही उसको आगे बढ़कर मोक्ष को प्राप्त करने की दिशा में प्रयास करने के लिए सहायक होती है। अतः भले ही सीमित अर्थ में हो, लेकिन 'काम' एक ऐसा पुरुषार्थ है जो व्यक्ति को मोक्ष प्राप्त करने में सहायक सिद्ध हो सकता है। हिन्दू सामाजिक जीवन में 'काम' की भावना-पूर्ति के लिए उसे केवल 'गृहस्थ-आश्रम' में ही पुरुषार्थ के रूप में स्वीकार किया गया है।

5.3.4 मोक्ष

धर्म, अर्थ और काम जिस पुरुषार्थ की प्राप्ति में योग देते हैं वह चौथा और जीवन का अन्तिम 'पुरुषार्थ' 'मोक्ष' माना गया है। इस पुरुषार्थ को कठिन साधना और परिश्रम के द्वारा ही प्राप्त किया जा सकता है। डॉ० कपाड़िया ने मोक्ष को स्पष्ट करते हुए कहा है कि, "मानव की शाश्वत प्रकृति आध्यात्मिक है और जीवन का उद्देश्य इसको प्रकाशित करना तथा इसके द्वारा आनन्द और ज्ञान प्राप्त करना है।" सुख और आनन्द को अर्थ और काम द्वारा थोड़े समय के लिए ही अनुभव किया जा सकता है, स्थायी सुख को प्राप्त करने के लिए ईश्वर-चिन्तन में डूबकर आत्म-ज्ञान के द्वारा ब्रह्म को समर्पित हो जाए तथा जन्म-मरण के बन्धन से छूटकर पूर्ण सन्तुष्टि का अनुभव करने लगे तब यह स्थिति 'मोक्ष' कहलाती है जोकि, प्रत्येक मनुष्य के जीवन का अन्तिम लक्ष्य है। मोक्ष तब मिलता है जब व्यक्ति अपने हृदय की अज्ञानता से मुक्ति पा ले।

बौद्ध-दर्शन में जीवन-मुक्ति और देह-मुक्ति के द्वारा मोक्ष प्राप्ति बताई है। यहाँ जीवन-मुक्ति से आशय सांसारिक दुःखों से संसार में रहते हुए ही छुटकारा पा लेना और तत्त्व-ज्ञान से है और देह-मुक्ति का अर्थ जीवन-मरण के चक्र से छुटकारा पाना है। सांख्यशास्त्र में मनुष्य को किसी भी कार्य का कर्ता न मानकर प्रकृति को महत्त्व दिया गया है। प्रकृति ही बुद्धि और मन को चलाती है, जब व्यक्ति 'धर्म' का निर्वाह करते हुए 'सात्विक ज्ञान' युक्त हो जाता है, तब वह अपने और प्रकृति के बीच अन्तर को समझकर माया को पहचान लेता है और उससे दूर हो जाता है या माया उसको प्रभावित नहीं कर पाती है तब व्यक्ति सभी बन्धनों से मुक्त होकर कैवल्य स्थिति (बन्धनों से पूर्ण छुटकारा) को प्राप्त कर अपनी स्वाभाविक स्थिति में आ जाता है, यही मोक्ष है। गीता में कहा गया है कि, जो व्यक्ति बाहरी सुख-दुःख से अप्रभावित रहकर अपने-आप में ही आनन्द महसूस करे, ऐसा योगी बह्यरूप होकर बह्य में मिलकर मोक्ष प्राप्त कर लेता है। यह सभी जगह ईश्वर का अनुभव करते हैं और सभी प्राणियों का भला करने में लगे रहते हैं। अद्वैत वेदान्तियों की मान्यता है कि, आत्मा ही परब्रह्मस्वरूप है, और जब यह अपने इस स्वरूप को पहचान लेती है, तब यही स्थिति उसको मोक्ष प्रदान कर देती है। अतः जब व्यक्ति की आत्मा, परमात्मा के साथ एकरूप हो जाए तब उसे बार-बार इस संसार में नहीं आना पड़ता, यही स्थिति 'मोक्ष' कहलाती है। हिन्दू मान्यतानुसार मोक्ष को तीन प्रकार के मार्गों द्वारा प्राप्त किया जा सकता है-कर्म-योग, ज्ञान-मार्ग और भक्ति-मार्ग। कर्म-मार्ग के अन्तर्गत व्यक्ति के द्वारा अपने निश्चित कर्मों का समुचित रीति से पालन करने और धार्मिक कर्तव्यों को निष्ठापूर्वक करते रहने पर उसे 'मोक्ष-प्राप्ति' होना बताया है। गीता में भी यही कहा गया है कि कर्म करो, पर फल की आशा मत करो। जो व्यक्ति ऐसा करता है उसे ही मोक्ष मिलता है। ज्ञान-मार्ग में कहा गया है कि, परमेश्वर निराकार है और बुद्धिमान व्यक्ति अपनी बुद्धि की सहायता से परमब्रह्म के वास्तविक स्वरूप को जानकर पूर्ण ज्ञान-प्राप्त कर लेता है, तब यह 'मोक्ष' की स्थिति होती है। भक्ति-मार्ग में ईश्वर को प्रेम और भक्ति की सहायता से जान लेने और उस पर प्रेमपूर्ण भक्ति द्वारा विजय प्राप्त करने पर जोर दिया

गया है। इस मार्ग पर भक्त ईश्वर को सगुण मानकर उसकी आराधना कीर्तन और भजन द्वारा करता है और अपने को समर्पित कर देता है। ईश्वर स्वयं उसकी भक्ति और प्रेम के आगे झुककर उसे परम् आनन्द की स्थिति प्रदान कर देते हैं। इन तीनों में भक्ति-मार्ग ही सबसे सहज और सरल मार्ग है, ज्ञान-मार्ग सामान्य जनता के लिए निश्चित ही कठिन है और कर्म-मार्ग ही एक ऐसा मार्ग है जो व्यक्ति को भक्ति-मार्ग अपनाते हुए कर्म के फल को भगवान को अर्पित करके प्रभु में मन को लगा देने का मार्ग दिखलाता है। निष्काम कर्म और भक्ति-भाव ये इसके दो आधार हैं। अतः अन्तिम रूप में परम् सत्य का ज्ञान होना, और आवागमन के चक्र से मुक्ति पाना ही मोक्ष है।

बोध-प्रश्न-1

i) धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की संकल्पना की संक्षिप्त व्याख्या कीजिए। अपना उत्तर पांच पंक्तियों में दीजिए?

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

ii) अर्थ और काम किस प्रकार धर्म से सम्बन्धित है?

.....

.....

5.4 सारांश

इस इकाई में सबसे पहले हमने चार पुरुषार्थ-धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष के विषय में चर्चा की है। भारतीय परम्परा में पुरुषार्थों को जीवन का ध्येय माना गया है। उपरोक्त विवेचना से यह स्पष्ट रूप से कहा जा सकता है कि, इन चारों पुरुषार्थों के माध्यम से मनुष्य जीवन को सार्थक कर्मों की दिशा में प्रवृत्त करने का प्रयास किया जाना ही इनका मुख्य लक्ष्य है। यह चार पुरुषार्थ दो भागों में विभक्त हैं। पहले भाग में धर्म और अर्थ आते हैं और दूसरे में काम और मोक्ष। काम सांसारिक सुख का और मोक्ष सांसारिक सुख-दुःख से मुक्ति का प्रतीक है। इनके साधन धर्म और अर्थ हैं। अर्थ से काम और धर्म से मोक्ष को साधा जाता है। पुरुषार्थ के द्वारा व्यक्ति जीवन में उच्चतर लक्ष्यों को प्राप्त करने का प्रयत्न करता है। पुरुषार्थ उस सार्थक जीवन-शक्ति का प्रतीक है जो सांसारिक सुख-भोग के बीच, धर्म पालन के माध्यम से मोक्ष की प्राप्ति का मार्ग दिखाता है। भारतीय समाज को एक नियंत्रित स्वतन्त्रता के दायरे में रखते हुए हिन्दू जीवन दर्शन के अन्तिम लक्ष्य मोक्ष को प्राप्त करना पुरुषार्थ के द्वारा सम्भव है।

5.6 परिभाषिक शब्दावली

सन्यास- जीवन का वह अन्तिम चरण जहाँ व्यक्ति अपने भौतिक संसार का त्याग करता है।

5.7 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न-1

i) शिक्षार्थी को इस प्रश्न का उत्तर पुरुषार्थ के प्रकार शीर्षक के अन्तर्गत दिये गये विवरण में से लिखना है।

ii) शिक्षार्थी को इस प्रश्न का उत्तर पुरुषार्थ के प्रकार शीर्षक के अन्तर्गत दिये गये विवरण में से लिखना है।

5.8 संदर्भ ग्रंथ सूची

मुकर्जी रविन्द्रनाथ, 1989, भारतीय समाज व संस्कृति, विवेक प्रकाशन, नई दिल्ली।

गिलिन और गिलिन, 1950, कल्चरल सोशियोलॉजी, द मैकमिलन को. न्यूयार्क ।

मदान टी. एन. (संपा), 1991, रिलिजन इन इंडिया, ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, नई दिल्ली।

थामस, ओ. डी., 1969, दि सोशियोलॉजी ऑफ रिलिजन, प्रेन्टिस हॉल, नई दिल्ली।

कुमार, शशिप्रभा. 1996, भारतीय संस्कृति: विविध आयाम, नई दिल्ली: विद्यानिधि प्रकाशन।

5.9 सहायक उपयोगी पाठ्य सामग्री

देव, योगेश्वर व निर्मोही दीपचन्द्र, 1986, धर्म और संस्कृति, अलंकार प्रकाशन, जयपुर।

मुनि, आचार्य देवेन्द्र, 1997, धर्म और जीवन, नई दिल्ली, यूनिवर्सिटी पब्लिकेशन्स।

गुप्ता, नरेन्द्र नाथ. 1994, धर्म: एक जीवन विधि, नई दिल्ली: निर्मल पब्लिकेशन्स।

मजूमदार एम. टी., 1979, इंडियन रिलीजियस हेरीटेज: ए कल्चरल हिस्ट्री ऑफ इंडिया, एलाइड पब्लि० प्रा० लि०, नई दिल्ली।

5.10 निबंधात्मक प्रश्न

- 1- पुरुषार्थ क्या है। पुरुषार्थ के विभिन्न प्रकारों एवं समाजशास्त्रीय महत्व की विवेचना कीजिए।
- 2- धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष के पारस्परिक सम्बन्धों की विवेचना कीजिए।

इकाई-6**संस्कार**
Sanskar

इकाई की रूपरेखा

- 6.0 प्रस्तावना
- 6.1 उद्देश्य
- 6.2 संस्कार का अर्थ
 - 6.2.1 संस्कार के भेद
- 6.3 संस्कार का महत्व
- 6.4 सारांश
- 6.5 परिभाषिक शब्दावली
- 6.6 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
- 6.7 संदर्भ ग्रंथ सूची
- 6.8 सहायक उपयोगी पाठ्य सामग्री
- 6.9 निबंधात्मक प्रश्न

6.0 प्रस्तावना

हिन्दुओं के धार्मिक और सामाजिक जीवन में संस्कारों का सबसे ऊँचा स्थान रहा है। संपूर्ण विश्व के सभी धर्मों अथवा संस्कृतियों में धार्मिक और सामाजिक एकता स्थापित करने और बनाये रखने के लिए कुछ संस्कारों को विकसित किया गया है। संस्कार ही वह सशक्त माध्यम हैं, जिनके द्वारा व्यक्ति बौद्धिक और आध्यात्मिक रूप से परिष्कृत होकर समाज का पूर्ण विकसित सदस्य बन पाता है।

संस्कार की इस प्रक्रिया में कुछ विधियाँ या धार्मिक अनुष्ठान आते हैं, जिनके द्वारा व्यक्ति के 'अहम्' का समाजीकरण और व्यक्तित्व का सम्पूर्ण विकास करने का प्रयास किया जाता है।

विश्व में जो संस्कृति जितनी अधिक पुरानी है, उसमें संस्कारों का महत्त्व भी साधारणतया उतना ही अधिक दिखाई देता है। विभिन्न समाजों में संस्कारों की प्रकृति में पायी जाने वाली भिन्नता का सम्बन्ध उस समाज के मूल्यों से होता है। भारतीय समाज में सदियों से विभिन्न संस्कारों को यहाँ के जीवन-दर्शन और नैतिक-मूल्यों का सबल आधार माना जाता रहा है। हिन्दू जीवन का अपरिहार्य और महत्त्वपूर्ण अंग है धर्म और धर्म के लिए शुद्धता और पवित्रता के पालन की अनिवार्यता रही। इसीलिए हिन्दुओं ने व्यक्ति के जीवन को शुद्ध बनाने, उसके मन, शरीर और मस्तिष्क को पवित्र करने के उद्देश्य से संस्कारों का प्रवर्तन विशुद्धतया धार्मिक आचार-विचार की भूमि पर किया है।

6.1 उद्देश्य

इकाई के अध्ययन के बाद आप;

हिन्दू धर्म में जन्म के पूर्व से लेकर मृत्यु तक चलने वाले संस्कारों के विषय में समझ सकेंगे;

जीवन में संस्कार के महत्त्व पर चर्चा कर सकेंगे।

6.2 संस्कार का अर्थ

संस्कार शब्द का प्रयोग अनेक अर्थों में किया जाता है। शाब्दिक अर्थ में संस्कार का मतलब शुद्धि, सफाई या सुधार से है। अतः हम कह सकते हैं कि जीवन को परिशुद्ध करने के लिए समुचित ढंग से किए गए कार्य-पद्धति को ही संस्कार कहते हैं। संस्कार वे कृत्य हैं जो परम्परागत रूप से जन्म से लेकर मृत्यु तक हिन्दुओं में आवश्यक होते हैं क्योंकि इसके बिना जीवन की परिशुद्धिता तथा आत्मा

की उन्नति सम्भव है। यद्यपि संस्कार की इस प्रक्रिया में कुछ धार्मिक अनुष्ठानों तथा कर्मकाण्डों की भी विशेष भूमिका होती है, परन्तु संस्कार की व्याख्या केवल इन्हें सम्पन्न करने मात्र की किसी विशेष प्रक्रिया से नहीं की जा सकती है, बल्कि संस्कारों का असली उद्देश्य व्यक्ति की आत्मशुद्धि करने और उसे सामाजिक दायित्वों से अच्छी तरह से परिचित कराना रहा है।

6.2.1 संस्कारों के भेद

हिन्दू जीवन से सम्बन्धित संस्कारों की संख्या के सम्बन्ध में विभिन्न धर्मशास्त्रों में काफी भिन्नता पायी जाती है। गौतम धर्मसूत्र में सबसे अधिक 40 संस्कारों का उल्लेख किया गया है जबकि पाराशर गृह्यसूत्र में तथा बौधायन गृह्यसूत्र में इन संस्कारों की संख्या 13 है। मनुस्मृति में भी 13 संस्कारों का ही उल्लेख किया गया है।

हिन्दू जीवन से सम्बन्धित प्रमुख संस्कार इस प्रकार हैं-

1) **गर्भाधान-** जिस कर्म के द्वारा पुरुष स्त्री में अपना बीज स्थापित करता है उसे गर्भाधान कहते हैं। गर्भाधान संस्कार का उद्देश्य सन्तान, विशेषकर पुत्र सन्तान को जन्म देना है। हिन्दू धर्म के अनुसार पुत्र को जन्म देना एक पवित्र धार्मिक कार्य माना गया है। धर्मशास्त्रों में इस संस्कार को करने का समय भी निर्धारित किया गया है। विवाह की चौथी रात्रि गर्भाधान के लिए उपयुक्त है। मनु ,याज्ञवल्क्य एवम् बैखानस की मान्यता है कि पत्नी के ऋतु स्नान की चौथी रात्रि से लेकर सोलहवीं रात्रि तक का समय गर्भाधान की दृष्टि से सही है। इन रात्रियों में पुत्र जन्म के लिए समरात्रि (अर्थात् रात्रि की वह तिथि जो 2 की संख्या से विभाजित हो सकती हो) तथा पुत्री जन्म के लिए विषम रात्रि को चुना जाना उपेक्षित है। इस संस्कार का आधुनिक समाज में कोई विशेष महत्त्व नहीं है और न ही आजकल इनका पालन किया जाता है।

2) **पुंसवन-** पुंसवन शब्द का अर्थ पुत्र सन्तान को जन्म देने से है। इस संस्कार का उद्देश्य पुत्र के जन्म की कामना करना है। शौनक ने लिखा है कि, “पुत्रान् प्रसूयते येन कर्मण तत् पुंसवनमीरितम्।” अर्थात् जिस कर्म के द्वारा पुत्र-जन्म की कामना की जाये, वही कार्य पुंसवन है। गृह्यसूत्रों के अनुसार यह संस्कार उस समय सम्पन्न किया जाता है जब चंद्रमा पुष्य नक्षत्र में, विशेष रूप से तिष्य में संक्रमण करता है। स्त्री इस दिन उपवास रखती है और इस अवसर पर गर्भिणी स्त्री की नाक के दाहिने नथुने में वट-वृक्ष की छाल को कूट-कूट कर निकाला गया रस मंत्रोच्चारण के साथ डाला जाता था जो यशस्वी पुत्र की कामना से सम्बन्धित था। याज्ञवल्क्य की मान्यता के अनुसार इस अवसर विशेष पर स्त्री की गोद में जल से भरा हुआ कलश रखा जाता था और पति गर्भ को छू करके पुत्र सन्तान की इच्छा करता था।

3) **सीमन्तोन्नयन-** अमंगलकारी या दुष्ट शक्तियों से रक्षा के लिए इस संस्कार द्वारा गर्भिणी स्त्री के केशों (सीमान्त) को ऊपर उठाकर संवारने (उन्नयन) का विधान है। गृह्यसूत्र में इस संस्कार को गर्भ के चौथे या पाँचवे मास में सम्पन्न करने का विधान किया गया है। गर्भिणी के केशों को संवारने का एक अन्य उद्देश्य उसे जितना हो सके प्रसन्न और उल्लसित रखना था। इस संस्कार के प्रारम्भ में मातृपूजन, नान्दि श्राद्ध आदि होते हैं।

4) **जातकर्म-** यह संस्कार बालक के जन्म के ठीक बाद सम्पन्न किया जाता है। जब बालक का जन्म होता है तो अनेक अनिष्टकारी प्रभावों का भय होता है, उन्हीं से बचने के लिए यह संस्कार किया जाता है। इसका उद्देश्य शिशु को अमंगलकारी शक्तियों के प्रभाव से बचाना और उसके दीर्घायु और स्वस्थ होने की कामना करना है। बालक के जन्म के तुरन्त बाद पिता अपनी चौथी अंगुली और एक सोने की शलाका में शिशु को शहद और घी अथवा केवल घी चटाता है। इसी समय बच्चे की नाभि को काटकर माँ तथा बच्चों को स्नान कराया जाता है।

5) **नामकरण-** मनुस्मृति के अनुसार नामकरण संस्कार बालक के जन्म के दसवें या बारहवें दिन सम्पन्न किया जाता था। बालक का नाम रखते समय उसके वर्ण, जाति और फलित ज्योतिष के अनुसार उसकी राशि का ध्यान रखा जाता है। नामकरण संस्कार में पूजा, हवन आदि करने के बाद पुरोहित बच्चे की राशि को विचारकर निकालते हैं और उसी राशि से सम्बन्धित प्रथम अक्षर के आधार पर बच्चे का नाम रख दिया जाता है।

6) **निष्क्रमण-** निष्क्रमण शब्द का अर्थ 'बाहर की ओर जाना' है। शिशु के विधि-विधानपूर्वक पहली बार घर से बाहर जाने को निष्क्रमण संस्कार के नाम से पुकारते हैं। मनुस्मृति में बताया गया है कि यह संस्कार जन्म के बाद बारहवें दिन से चौथे महीने तक गिना जाता है और इसी अवधि में यह संस्कार सम्पन्न कराया जाता है। शिशु को माँ की गोद में देकर सबसे पहले पिता सूर्य-दर्शन करवाता है। इस संस्कार का व्यवहारिक अर्थ एक निश्चित समय के बाद शिशु को खुली वायु में लाना है।

7) **अन्नप्राशन-** इस संस्कार के पूर्व तक शिशु अपने भोजन के लिए माता के दूध या गाय के दूध पर ही निर्भर रहता था। मनुस्मृति तथा याज्ञवल्क्य स्मृति के अनुसार यह संस्कार शिशु के जन्म के पश्चात् छठे महीने में सम्पन्न किया जाता है। अन्नप्राशन संस्कार बच्चे के द्वारा सर्वप्रथम अन्न ग्रहण करने का सूचक है। साधारणतया इस संस्कार के अवसर पर पहली बार शिशु को दही, शहद और घी के साथ कुछ अन्न खाने को दिया जाता है। इस संस्कार का महत्त्व इस कारण है कि, शिशु को सही समय पर अपनी माता के दूध से अलग कर उसका शारीरिक विकास उचित रूप से होता है।

8) **चूड़ाकरण (मुण्डन) संस्कार-** धर्मशास्त्रों के अनुसार संस्कार्य व्यक्ति के लिए लम्बी आयु, सुन्दरता तथा कल्याण की प्राप्ति इस संस्कार का उद्देश्य है। यह वह संस्कार है, जिसमें पहली बार शिशु के सिर के बालों को मुंडवाया जाता है। मनुस्मृति के अनुसार चूड़ाकर्म जन्म के पहले साल अथवा तीसरे साल में किया जाना चाहिए। तीसरे साल में सम्पन्न चूड़ाकरण को सर्वोत्तम माना गया

है अपनी-अपनी मन्त के अनुसार बहुत-से लोग देवी के मन्दिर में जाकर या किसी तीर्थस्थान या गंगाजी अथवा अन्य किसी पवित्र नदी के किनारे जाकर ही मुण्डन कराते हैं।

9) कर्णछेदन- इस संस्कार के द्वारा बच्चों के कानो को छेदा जाता है। अति प्राचीन काल से ही संसार के विभिन्न समाजों में शरीर के विभिन्न अंगों को छेदकर आभूषण पहनने का प्रचलन रहा है। सुश्रुत की मान्यता है कि, रोग आदि से रक्षा और भूषण या अलंकरण के लिए बालक के कानों का छेदन करना चाहिए। कर्णछेदन संस्कार के उपयुक्त समय के रूप में शिशु के तीसरे या पांचवे साल का विधान किया गया है। इस समय स्वर्णकार या नाई को बुलाकर मन्त्रोच्चारण के साथ कर्णछेदन करवाया जाता है और कानों में सोने की बाली पहना दी जाती है। इसके बाद ब्राह्मण भोजन के साथ संस्कार समाप्त होता था।

10) विद्यारम्भ- इस संस्कार के साथ बालक की शिक्षा आरम्भ होती है। बालक का मस्तिष्क जब शिक्षा ग्रहण करने योग्य हो जाता है, तब उसका विद्यारम्भ अक्षर-ज्ञान के साथ शुरू किया जाता है। उपरोक्त संस्कार के द्वारा बालक के मानसिक और बौद्धिक विकास का कार्य प्रारम्भ होता था। विश्वामित्र के अनुसार बालक की आयु के पांचवे साल में यह संस्कार सम्पन्न किया जाना चाहिये। सूर्य के उत्तरायण में आने पर इस समय को शुभ मानते हुए यह संस्कार करवाया जाता है। इस दिन स्नान के बाद शिशु को सुन्दर वेश-भूषा से सजा कर गणेश जी, सरस्वती, बृहस्पति आदि देवों का पूजन किया जाता है, इसके बाद गुरु का सम्मान कर शिशु 'ॐ' नमः सिद्धम् दोहराता है और वहीं पर लिखता है। इसके बाद उसे अ, आ इत्यादि सिखाए जाते हैं।

11) उपनयन- हिन्दू जीवन में किशोरावस्था को सम्पूर्ण जीवन में सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण मानने के कारण इससे सम्बन्धित उपनयन संस्कार का वैदिक-काल से ही विशेष महत्त्व रहा है। अथर्ववेद में उपनयन संस्कार का अर्थ ब्रह्मचारी द्वारा शिक्षा ग्रहण करने तथा ब्रह्मचारी को वेदों की दीक्षा देने से

था। आजकल उपनयन संस्कार का शिक्षा सम्बन्धी अर्थ प्रायः लुप्त हो चुका है, अब इसे बालक के जनेऊ धारण संस्कार के रूप में लिया जाता है। गृह्यसूत्रों के अनुसार ब्राह्मण का उपनयन संस्कार आठवें, क्षत्रिय का ग्यारहवें तथा वैश्य का बारहवें साल में किया जाना चाहिए। उपनयन संस्कार सम्पन्न करने के लिए एक शुभ दिन चुन लिया जाता है, विशेषतः शुक्ल पक्ष के किसी उपयुक्त दिन और समय का निर्धारण करके गणेश, लक्ष्मी, सरस्वती, धात्री और मेंधा आदि देवी-देवताओं की पूजा की जाती है। विद्यार्थी पूरी रात मौन रहकर बिताता है। प्रातःकाल माता और पुत्र अन्तिम बार साथ-साथ भोजन करते हैं, इसके बाद बालक को मण्डप ले जाकर उसका मुण्डन किया जाता है। फिर बालक को स्नान कराकर उसके शरीर को पीले वस्त्रों से ढका जाता है। इसके बाद मन्त्रोच्चारण के साथ बालक की कमर में मेंखला बांधते हैं जो उसे पापों से बचाती, उसके जीवन को शुद्ध रखती है। इसके बाद ब्रह्मचारी को उपवीत सूत्र (जनेऊ) दिया जाता है। उपवीत के तीन धागे सत्व, रजस्, तमस् का प्रतिनिधित्व करते हैं। यह तीन धागे ब्रह्मचारी को यह याद दिलाने के लिए होते हैं कि, उसे ऋषि-ऋण, पितृ-ऋण और देव-ऋण से उऋण होना है। इस अवसर पर बालक को बैठने के लिए मृगचर्म या पशुचर्म तथा चलने के लिए एक दण्ड दिया जाता है।

12) समावर्तन- यह संस्कार विद्यार्थी जीवन के अन्त का सूचक है। समावर्तन शब्द का अर्थ है 'घर की ओर पुनः प्रस्थान करना।' इसका अर्थ यह है कि, विद्यार्थी वेदों का अध्ययन करने के पश्चात् गुरुकुल से पुनः अपने घर की ओर वापस लौटता था, तब गुरुकुल में ही इस संस्कार को पूरा किया जाता था। इस संस्कार के लिए सर्वसामान्य आयु 24 साल मानी गयी है। क्योंकि, इस समय विद्यार्थी वेदों की शिक्षा पूरी कर लेता था। मनु ने लिखा है कि, गुरु की अनुमति प्राप्त कर समावर्तन संस्कार करना चाहिए तथा उसके बाद सवर्ण तथा गुणवती कन्या से विवाह करना चाहिए। इस संस्कार को पूरा करने के लिए शुभ दिन चुना जाता था। इस दिन वह गुरु को प्रणाम करके वैदिक-अग्नि को अन्तिम आहुतियां प्रदान करता था। अग्नि के पास ही जल से भरे आठ कलश रखे रहते थे। इस

अवसर पर वह इन कलशों के जल से स्नान करता था, जोकि ब्रह्मचर्य आश्रम की समाप्ति तथा गृहस्थ जीवन के प्रारम्भ का प्रतीक माना जाता था। इसके पश्चात् ब्रह्मचारी मेंखला, मृगचर्म और दण्ड को त्याग कर नए कपड़े, आभूषण और पुष्प-माला आदि धारण करता है। यह प्रक्रिया इस बात का प्रतीक है कि, व्यक्ति अब ब्रह्मचर्य के नियमों से बंधा हुआ नहीं है। इसके बाद गुरु का आशीर्वाद ले कर वह घर को लौटता है। इसका मतलब यह है कि, समावर्तन संस्कार को विवाह का प्रवेश-द्वार भी कहा जा सकता है।

13) विवाह- हिन्दुओं के लिए विवाह एक धार्मिक संस्कार है। विवाह के माध्यम से व्यक्ति गृहस्थाश्रम में प्रवेश करता है और अपने समाज तथा संस्कृति की समृद्धि में अपना योगदान देता है। विवाह संस्कार व्यक्ति को ऋषि- ऋण, देव-ऋण, पितृ-ऋण, अतिथि-ऋण तथा जीव-ऋण से उऋण होने का एक माध्यम माना जाता है। विवाह द्वारा पत्नी प्राप्त करके ही व्यक्ति चार पुरुषार्थों - धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष को प्राप्त कर सकता है। पाराशर गृह्यसूत्र में तीस तथा बौधायन गृह्यसूत्र में पच्चीस अनुष्ठानों का उल्लेख है जो हिन्दू विवाह के आवश्यक अंग हैं। इन अनुष्ठानों में होम, पाणिग्रहण और सप्तपदी विशेषतः महत्त्वपूर्ण हैं। विवाह न केवल जैविकीय आवश्यकताओं को पूरा करता है वरन् धार्मिक कार्यों के सम्पादन और समाज में निरन्तरता बनाये रखने की दृष्टि से भी यह एक आवश्यक प्रक्रिया है।

14) अन्त्येष्टि- यह मनुष्य की जीवन-यात्रा का अन्तिम संस्कार है, जिसके साथ व्यक्ति के सांसारिक जीवन का भी अन्त होता है। इसका उद्देश्य मृत व्यक्ति की आत्मा को परलोक में शान्ति प्रदान करना है। मृत्यु के बाद शव-यात्रा के पहले मृतक को स्नान कराकर, नए कपड़े पहनाकर बांस से बनी अर्धों पर लिटाया जाता है। शव-यात्रा के दौरान रास्ते भर मंत्रों (राम नाम सत्य है, सत्य से ही मुक्ति है) का सामूहिक उच्चारण किया जाता है। मंत्र बोलने के साथ मृतक के पुत्र और अन्य रक्त-सम्बन्धी चिता

को अग्नि देते हैं। दाह-संस्कार के बाद अस्थियों को गंगा या अन्य नदी में विसर्जित कर दिया जाता है। मृत्यु के दिन से दसवें अथवा तेरहवें दिन तक मृतक के घर में अशौच का काल रहता है और इस अवधि में मृतक की आत्मा की शान्ति और परलोक में उसके कल्याण से सम्बन्धित कई अनुष्ठान किए जाते हैं। इसके अलावा आत्मा की शान्ति के लिए हर साल श्राद्ध और पिण्डदान भी किया जाता है।

बोध प्रश्न-1

i) हिन्दुओं में जन्म के पूर्व के संस्कार बताइए?

.....

.....

.....

.....

.....

.....

ii) समावर्तन संस्कार तथा उपनयन संस्कार का संक्षिप्त वर्णन कीजिए?

.....

.....

.....

.....

6.3 संस्कारों का महत्त्व

1) **व्यक्तित्व -विकास में सहायक-** व्यक्तित्व -निर्माण में संस्कारों की महत्त्वपूर्ण भूमिका रही है। मनुष्य की प्रवृत्तियों और चित्तवृत्तियों को प्रेरणा देने वाले उसके मन में पले संस्कार होते हैं। व्यक्ति अपने जीवन में जो भी शुभ-अशुभ, अच्छे-बुरे कर्म करता है, उन कर्मों से वैसे ही नवीन संस्कार निर्मित होते रहते हैं। इस प्रकार इन संस्कारों की एक अंतहीन श्रृंखला बनती चली जाती है जो मनुष्य के व्यक्तित्व -निर्माण में अपना सहयोग देती हैं।

2) **सामाजिक समस्याओं का समाधान-** सामाजिक समस्याओं का समाधान व निदान करने में भी संस्कारों का अमूल्य योगदान रहा है। जब व्यक्ति को स्वास्थ्य-विज्ञान तथा प्रजनन-शास्त्र का ज्ञान नहीं था तथा स्वास्थ्य-विज्ञान का भी बहुत विकास नहीं हुआ था, उस अवस्था में यह संस्कार ही उसकी शिक्षा का माध्यम बने और बालक के जन्म से सम्बन्धित समस्याओं का समाधान भी किया। उदाहरणस्वरूप गर्भाधान और पुंसवन संस्कार के द्वारा प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष रूप में गर्भिणी की आवश्यकताओं को पूरा भी कर लिया जाता था और साथ ही उसकी जैविकीय आवश्यकताओं को पूरा करने का पूरा ध्यान भी रख लिया जाता था। विवाह -संस्कार का आधारभूत उद्देश्य भी दाम्पत्य-जीवन की समस्याओं और कठिनाईयों का समुचित समाधान करके पारिवारिक जीवन को अधिक से अधिक सुगठित बनाना था जोकि, एक स्वस्थ समाज को बनाने के लिए सशक्त आधार और प्राथमिक पाठशाला है।

3) **शिक्षा का सर्वोत्तम साधन-** शिक्षा के क्षेत्र में सभी संस्कारों का बहुत अधिक योगदान रहा है। व्यक्ति को सांसारिक ज्ञान देने ,उसे प्रशिक्षित कर समाजोपयोगी और योग्य सदस्य बनाने में संस्कार जीवन के सभी स्तरों पर सहायक सिद्ध हुए हैं। शिक्षा का प्रमुख उद्देश्य विविध परिस्थितियों में व्यक्ति को उसके दायित्वों और कर्तव्यों का ज्ञान कराकर उसके व्यक्तित्व का सही दिशा में

विकास करना है। मानव-जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में उसके द्वारा निभाई अनेक भूमिकाओं यथा माता-पिता, पुत्र, विद्यार्थी, गृहस्थ इत्यादि के रूप में उसे अनुशासित जीवन जीने की शिक्षा देने में भी हिन्दू संस्कारों ने महत्त्वपूर्ण योगदान दिया है।

4) समाजीकरण में सहायक- संस्कार व्यक्ति के समाजीकरण का एक ऐसा विशेष माध्यम हैं, जिनकी सहायता से व्यक्ति यथाशीघ्र सामाजिक मूल्यों के अनुसार व्यवहार करना सीखता है, उन्हें आत्मसात् करता है तथा अपने जीवन के वास्तविक लक्ष्य को प्राप्त करने की दिशा में प्रयासरत होता है। इन संस्कारों के द्वारा सुनिर्दिष्ट आचार-विचार के उचित पालन के द्वारा व्यक्ति का समाजीकरण इस प्रकार से होता है कि, वह हर पल अपने सामाजिक कर्तव्यों से परिचित होता जाता है। इसके अलावा उसे सामाजिक अपेक्षाओं का ज्ञान, सामाजिक परिपक्वता और उन्हें पूरा करने के लिए सहायक व अनुकूल वातावरण बनाने में भी संस्कार अपना महत्त्वपूर्ण योगदान देते हैं।

5) नैतिक गुणों और सांस्कृतिक विकास का आधार- संस्कृति के स्थायीकरण तथा जनमानस में नैतिक गुणों का विकास करने की दिशा में संस्कारों ने विशेष भूमिका को निभाया है। दया, उचित व्यवहार, पवित्रता, क्षमा, विनम्रता, निर्लोभता, सहानुभूति और समर्पण आदि अनेक नैतिक गुणों को संस्कारों की सहायता से व्यक्ति के जीवन में और व्यवहार में विकसित किया जाता है। इन गुणों की सहायता से व्यक्ति-निर्माण होता है जोकि, विस्तृत होकर समाज की नैतिक-प्रगति की ओर बढ़ता है। वह संस्कार ही हैं जिनके द्वारा व्यक्ति सामाजिक रीति-रिवाजों और सांस्कृतिक परम्पराओं से परिचय प्राप्त करके उनके प्रति विचारशील होकर वैसा ही आचरण करने का प्रयास करता है। इस प्रकार एक से दूसरे को पीढ़ी-दर पीढ़ी हस्तांतरित होते हुए यह सांस्कृतिक विशेषताएं संस्कारों को सुरक्षित रखती हैं और उनका लम्बे समय तक संरक्षण करती हैं।

बोध-प्रश्न-2

i) व्यक्ति के समाजीकरण में संस्कारों के महत्त्व की व्याख्या कीजिए?

.....

.....

.....

.....

.....

.....

6.4 सारांश

इस इकाई में हमने संस्कारों के विभिन्न प्रकारों का अध्ययन किया है। हिन्दू संस्कार व्यक्ति का समाजीकरण करने तथा उसके सामाजिक व्यक्तित्व को विकसित करने का प्रमुख आधार रहे हैं परन्तु आधुनिक समय में अनेक संस्कारों का पहले की तरह पालन नहीं किया जाता है या फिर कई संस्कारों का समय के साथ त्याग कर दिया गया है। आज कुछ संस्कारों का यदि पालन किया भी जा रहा है तो उनमें आवश्यकतानुसार कुछ परिवर्तन कर स्वीकार किया जाता है।

6.5 परिभाषिक शब्दावली

पुंसवन- पुंसवन एक जन्म से पूर्व का संस्कार है, जो पुत्र सन्तान को जन्म देने से सम्बन्धित है।

ब्राह्मचर्य- धार्मिक भावनाओं से ओत-प्रोत हिन्दू के जीवन का वह पहला चरण जिसमें वह कँआरा रहकर शिक्षा प्राप्त करने का कार्य करता है।

ऋण- हिन्दू जीवन में व्यक्ति कर्तव्यों-कर्मों का द्योतक।

समाजीकरण-सामाजिक सम्पर्क के कारण व्यक्ति द्वारा सीखने की प्रक्रिया का नाम समाजीकरण है।

6.6 अभ्यास-प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न-1

i) विद्यार्थी को इस प्रश्न का उत्तर संस्कारों के भेद शीर्षक के अर्न्तगत दिये गये विवरण में से लिखना है।

ii) विद्यार्थी को इस प्रश्न का उत्तर संस्कारों के भेद शीर्षक के अर्न्तगत दिये गये विवरण में से लिखना है।

बोध-प्रश्न- 2

i) विद्यार्थी को इस प्रश्न का उत्तर हिन्दू संस्कारों का समाजशास्त्रीय महत्त्व शीर्षक के अर्न्तगत दिये गये विवरण में से लिखना है।

6.7 संदर्भ ग्रंथ सूची

मुकर्जी, रविन्द्रनाथ, 1989, भारतीय समाज व संस्कृति, विवेक प्रकाशन, नई दिल्ली।

गिलिन और गिलिन, 1950, कल्चरल सोशियोलॉजी, द मैकमिलन को., न्यूयार्क ।

मदान, टी. एन. (संपा), 1991, रिलिजन इन इंडिया, ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, नई दिल्ली।

थामस, ओ. डी., 1969, दि सोशियोलॉजी ऑफ रिलिजन, प्रेन्टिस हॉल, नई दिल्ली।

कुमार, शशिप्रभा. 1996. भारतीय संस्कृति: विविध आयाम. नई दिल्ली: विद्यानिधि प्रकाशन।

6.8 सहायक उपयोगी पाठ्य सामग्री

देव, योगेश्वर व निर्मोही दीपचन्द्र, 1986, धर्म और संस्कृति, अलंकार प्रकाशन, जयपुर।

मुनि, आचार्य देवेन्द्र. 1997. धर्म और जीवन. नई दिल्ली: यूनिवर्सिटी पब्लिकेशन्स।

गुप्ता, नरेन्द्र नाथ. 1994. धर्म: एक जीवन विधि. नई दिल्ली: निर्मल पब्लिकेशन्स।

मजूमदार एम. टी., 1979, इंडियन रिलीजियस हेरीटेज: ए कल्चरल हिस्ट्री ऑफ इंडिया, एलाइड पब्लि ० प्रा ० लि ०, नई दिल्ली।

6.9 निबंधात्मक प्रश्न

1- संस्कार का क्या तात्पर्य है? संस्कारों के प्रकार एवं समाजशास्त्रीय महत्व को समझाइए।

2- संस्कार की परिभाषा दीजिए। सामाजिक जीवन में संस्कारों के महत्व की विवेचना कीजिए।

इकाई-7

भारत में विविधता में एकता Unity in Diversity in India

इकाई की रूपरेखा

7.0 प्रस्तावना

7.1 उद्देश्य

7.2 भारत में विविधता के रूप

7.2.1 क्षेत्रीय या भौगोलिक विविधता

7.2.2 भाषायी विविधता

7.2.3 प्रजातीय विविधता

7.2.4 धार्मिक विविधता

7.2.5 जातिगत विविधता

7.2.6 सांस्कृतिक विविधता

7.2.7 जनांकिकीय विविधता

7.3 भारत में एकता

7.3.1 धार्मिक एकता

7.3.2 भौगोलिक विविधता में एकता

-
- 7.3.3 भाषायी एकता
 - 7.3.4 प्रजातीय एकता
 - 7.3.5 राजनैतिक एकता
 - 7.3.6 सांस्कृतिक विविधता में एकता
 - 7.3.7 जातिगत एकता
 - 7.3.8 ग्रामीण-नगरीय विविधता में एकता
 - 7.4 सारांश
 - 7.5 परिभाषिक शब्दावली
 - 7.6 अभ्यास-प्रश्नों के उत्तर
 - 7.7 संदर्भ ग्रंथ सूची
 - 7.8 सहायक उपयोगी पाठ्य सामग्री
 - 7.9 निबंधात्मक प्रश्न

7.0 प्रस्तावना

भारत एक विशाल देश है जिसकी भौगोलिक स्थिति में भारी विविधता और अनेकता दिखाई पड़ती है। अनेक मतों, विचारों, बोलियों, रंग-रूपों, पहनावों और विश्वासों के होते हुए भी आपस में मिल-जुल कर रहते हुए एकता की भावना को प्रकट करना ही विविधता में एकता को दर्शाता है। विविधता

में एकता को बताने से पहले यह देखना जरूरी है कि, आखिर भारत में रहने वाले लोग किस प्रकार एक-दूसरे से अलग हैं ?

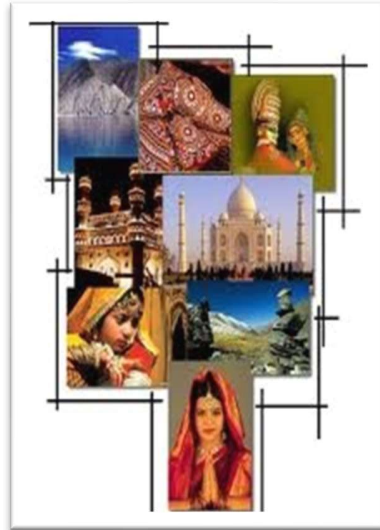
7.1 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ने के पश्चात् आपके द्वारा यह समझना संभव होगा:

- भारत के सामाजिक और सांस्कृतिक क्षेत्रों में विभिन्न प्रकार की जैसे धर्म, जाति, भाषा, प्रजाति आदि में विविधताओं को स्पष्ट करना,
- भारत में विविध भौगोलिक क्षेत्रों, धर्मों, जातियों, भाषाओं, और प्रजातियों आदि में एकता के रूप को स्पष्ट करना।

7.2 भारत में विविधता के रूप

जैसा कि हम जानते हैं कि, भारतीय समाज की विभिन्नता को कई क्षेत्रों में देखा जा सकता है। हमारा देश भूमध्य गोलार्द्ध में स्थित है। उत्तर से दक्षिण तक भारतीय भूमि की लम्बाई 3,214 किलोमीटर और पूरब से पश्चिम तक यह 2,933 किलोमीटर है। इस प्रकार भारत का कुल क्षेत्र 32,87,263 वर्ग किलोमीटर है। भारतीय समाज और संस्कृति में हमें अनेक प्रकार की विविधताओं के दर्शन होते हैं, जिन्हें धर्म, जाति, भाषा, प्रजाति आदि में व्याप्त विभिन्नताओं के द्वारा सरलता से समझा जा सकता है। इन विभिन्नताओं को कुछ मुख्य बिन्दुओं में बाँटकर अब हम उन पर चर्चा करेंगे -



7.2.1 क्षेत्रीय या भौगोलिक विविधता

उत्तर में हिमालय से लेकर दक्षिण में कन्याकुमारी तक और पूर्व में अरुणाचल प्रदेश से लेकर पश्चिम में राजस्थान तक अनेक भौगोलिक विविधतायें हैं। कश्मीर में बहुत ठंड है तो दक्षिण भारतीय क्षेत्र बहुत गर्म है। गंगा का मैदान है जो बहुत उपजाऊ है तथा इसी के किनारे कई प्रमुख राज्य, शहर, सभ्यता और उद्योग विकसित हुए। हिमालयी क्षेत्र में अनेक प्रसिद्ध धार्मिक स्थल जैसे बद्रीनाथ, केदारनाथ तथा गंगा, यमुना, सरयू, ब्रह्मपुत्र आदि नदियों का उद्गम स्थल है। देश के पश्चिम में हिमालय से भी पुरानी अरावली पर्वतमाला है। कहीं रेगिस्तानी भूमि है तो वहीं दक्षिण में पूर्वी और पश्चिमी घाट, नीलगिरी की पहाड़ियाँ भी हैं। यह भौगोलिक विविधता भारत को प्राकृतिक रूप से मिला उपहार है।

7.2.2 भाषायी विविधता

भारत एक बहुभाषी राष्ट्र है, प्राचीन काल से ही भारत में अनेक भाषाओं व बोलियों का प्रचलन रहा है। वर्तमान में भारत में 18 राष्ट्रीय भाषाएँ तथा 1,652 के लगभग बोलियाँ पाई जाती हैं। भारत में रहने वाले लोग इतनी भाषाएँ व बोलियाँ इसलिए बोलते हैं। क्योंकि, यह उपमहाद्वीप एक लम्बे समय से विविध प्रजातीय समूहों की मंजिल रहा है। भारत में बोली जाने वाली भाषाओं को मुख्य रूप से चार भाषा-परिवारों में बाँटा जा सकता है।

- i) **ऑस्ट्रिक परिवार**-इसके अर्न्तगत मध्य भारत की जनजातीय-पट्टी की भाषाएँ आती हैं जैसे-संथाल, मुण्डा, हो आदि।
- ii) **द्रावीडियन परिवार**-तेलुगु, तमिल, कन्नड़, मलयालम, गोंडी, आदि।
- iii) **साइनो-तिब्बतन परिवार**- आमतौर पर उत्तर-पूर्वी भारत की जनजातियाँ।

iv) इंडो-यूरोपियन परिवार-भारत में सबसे अधिक संख्या में बोली जाने वाली भाषाएँ व बोलियाँ इण्डो आर्य-भाषा परिवार की हैं। जहाँ एक ओर पंजाबी, सिंधी भाषाएँ व बोलियाँ बोली जाती हैं वहीं दूसरी ओर मराठी, कोंकणी, राजस्थानी, गुजराती, मारवाड़ी, हिन्दी-उर्दू, छत्तीशगढ़, बंगाली, मैथिली, कुमाउंनी, गढ़वाली जैसी भाषाएँ व बोलियाँ बोली जाती हैं।

भारतीय संविधान की 8 वीं अनुसूची में केवल 18 भाषाएँ ही सूचीबद्ध हैं। यह भाषाएँ असमिया, उड़िया, उर्दू, कन्नड़, कश्मीरी, गुजराती, तमिल, तेलुगु, पंजाबी, बंगला, मराठी, मलयालम, संस्कृत, सिंधी, हिन्दी, नेपाली, कोंकणी और मणिपुरी हैं। इसके अतिरिक्त संविधान के अनुच्छेद 343(2) के रूप में हिन्दी के साथ अंग्रेजी भाषा को भी सरकारी काम-काज की भाषा माना गया। सभी भाषाओं में हिन्दी एक ऐसी भाषा है जो 2001 की जनगणना के अनुसार सबसे ज्यादा लोग बोलते हैं अर्थात् 248 करोड़।

7.2.3 प्रजातीय विविधता

प्रजाति ऐसे व्यक्ति का समूह है जिनमें त्वचा का रंग, नाक का आकार, बालों के रंग के प्रकार आदि कुछ स्थायी शारीरिक विशेषताएं मौजूद होती हैं। भारत को प्रजातियों का अजायबघर इसीलिए कहा गया है क्योंकि, यहाँ समय-समय पर अनेक बाहरी प्रजातियाँ किसी-न-किसी रूप में आती रहीं और उनका एक-दूसरे में मिश्रण होता रहा। भारतीय मानवशास्त्री सर्वेक्षण के अनुसार देश की प्रजातीय स्थिति को सही तरह से समझ पाना कठिन है। प्रजाति व्यक्तियों का ऐसा बड़ा समूह है जिसकी शारीरिक विशेषताओं में बहुत अधिक बदलाव न आकर यह आगे की पीढ़ियों में चलती रहती हैं। संसार में मुख्यतः 3 प्रजातियाँ काकेशायड, मंगोलॉयड, नीग्रॉयड पाई जाती हैं। सरल शब्दों में इन्हें हम ऐसे मानव-समूह के नाम से सम्बोधित करते हैं जिनके शरीर का रंग सफेद, पीला तथा काला हो। भारतीय समाज में शुरू से ही द्रविड़ तथा आर्य, प्रजातीय रूप से एक-दूसरे से अलग थे। द्रविड़ों में

नीग्रॉयड तथा आर्यों में कॉकेशायड प्रजाति की विशेषताएं अधिक मिलती थीं। बाद में शक, हूण, कुषाण व मंगोलों के आने पर मंगोलॉयड प्रजाति भी यहाँ बढ़ने लगी व धीरे-धीरे यह सभी आपस में इतना घुल-मिल गई कि, आज हमें भारत में सभी प्रमुख प्रजातियों के लोग मिल जाते हैं।

7.2.4 धार्मिक विविधता

भारत में अनेक धर्मों को मानने वाले लोग रहते हैं। एक समय तक भारत में एक साथ विश्व के कई धर्म फले-फूले हैं जैसे- हिन्दू धर्म, इस्लाम धर्म, सिख धर्म, बौद्ध धर्म, इसाई धर्म, पारसी धर्म, यहूदी धर्म। यहाँ हिन्दू धर्म के अनेक रूपों तथा सम्प्रदायों के रूप में वैदिक धर्म, पौराणिक धर्म, सनातन धर्म, शैव धर्म, वैष्णव धर्म, शाक्त धर्म, नानक पन्थी, आर्यसमाजी आदि अनेक मतों के मानने वाले अनुयायी मिलते हैं। इस्लाम धर्म में भी शिया और सुन्नी दो मुख्य सम्प्रदाय मिलते हैं। इसी प्रकार सिक्ख धर्म भी नामधारी और निरंकारी में, जैन धर्म दिगम्बर व श्वेतांबर में और बौद्ध धर्म हीनयान व महायान में विभक्त है। भारतीय समाज विभिन्न धर्मों तथा मत-मतान्तरों का संगम-स्थल रहा है। भारत एक धर्मनिरपेक्ष राज्य है, जहाँ सभी को अपने-अपने धर्म का आचरण व पालन करने की छूट मिली है। वर्ष 2001 की जनगणना के अनुसार भारत में हिन्दू धर्म के अनुयायी सबसे ज्यादा अर्थात् 81.92 प्रतिशत, मुस्लिम धर्म के 12.29 प्रतिशत, इसाई धर्म के 2.16 प्रतिशत, सिक्ख धर्म 2.02 प्रतिशत, बौद्ध धर्म 0.79 प्रतिशत जैन धर्म के 0.40 प्रतिशत तथा अन्य 0.42 प्रतिशत हैं। इस प्रकार सभी धर्मों के लोगों की उपस्थिति को यहाँ देखकर यह कहा जा सकता है कि, देश की धार्मिक संरचना बहुधर्मी है।

7.2.5 जातिगत विविधता

‘पीपल ऑफ इण्डिया’ के अनुसार भारत में लगभग 4,635 समुदाय हैं। यह भारतीय संस्कृति की मौलिक विशेषता है जो और कहीं नहीं पायी जाती। यह व्यक्ति को जन्म के आधार पर एक समूह का सदस्य मान लेता है, जिसके अन्तर्गत समूह अपने सदस्यों के खान-पान, विवाह और व्यवसाय, सामाजिक सम्बन्धों हेतु कुछ प्रतिबन्धों को लागू करता है। आज बाहरी प्रजातियाँ भी हमारी जातियों में ही समाहित हो गई हैं, यह इस व्यवस्था की व्यापकता को ही दर्शाता है। यद्यपि कई विचारकों जैसे के. एम. पणिककर और ईरावती कर्वे ने माना है कि जाति-व्यवस्था ने हिन्दू समाज को खण्ड-खण्ड में बाँट दिया है।

7.2.6 सांस्कृतिक विविधता

भारतीय संस्कृति में हम प्रथाओं, वेश-भूषा, रहन-सहन, परम्पराओं, कलाओं, व्यवहार के ढंग, नैतिक-मूल्यों, धर्मों, जातियों आदि के रूप में भिन्नताओं को साफ तौर से देख सकते हैं। उत्तर-भारत की वेशभूषा, भाषा, रहन-सहन आदि अन्य प्रान्तों यथा दक्षिण, पूर्व व पश्चिम से भिन्न हैं। नगर और गाँवों की संस्कृति अलग है, विभिन्न जातियों के व्यवहार के ढंग, विश्वास अलग हैं। हिन्दुओं में एक विवाह तो मुस्लिमों में बहुपत्नी-प्रथा का चलन है, देवी-देवता भी सबके अलग-अलग हैं। भारतीय मानवशास्त्रीय सर्वेक्षण के अनुसार भारत में 91 संस्कृति क्षेत्र हैं। गाँवों में संयुक्त परिवार प्रथा तथा श्रमपूर्ण जीवन है तो शहरों में एकांकी परिवार है। अतः स्पष्ट है कि भारत सांस्कृतिक दृष्टि से अनेक विविधताएँ लिए हैं।

7.2.7 जनांकिकीय विविधता

सन् 2001 की जनगणना के अनुसार भारत की जनसंख्या 102 करोड़ से अधिक थी जो आज 121 करोड़ तक पहुँच चुकी है। देश के विभिन्न राज्यों में जनसंख्या में बहुत विविधता मिलती है। उत्तर प्रदेश में जनसंख्या का कुल 16.17 प्रतिशत हिस्सा है तो उत्तर-पूर्वी राज्यों सिक्किम, मिजोरम, अरूणाचल प्रदेश, गोवा, मणिपुर आदि में कुल जनसंख्या का एक प्रतिशत भाग रहता है। दिल्ली में औसतन 9,294 लोग एक वर्ग किलोमीटर क्षेत्र में रहते हैं तो वहीं अरूणाचल प्रदेश में इतने में 13 लोग रहते हैं। साक्षरता की दृष्टि से भारत का अध्ययन करने पर चलता है कि,सबसे कम साक्षरता बिहार में 47 प्रतिशत तथा सबसे अधिक लोग 99.1 प्रतिशत केरल में साक्षर हैं। देश में 6.78 करोड़ के लगभग विभिन्न जनजातियों के लोग रहते हैं जिनकी जीवन शैली बिल्कुल अलग है। कुल जनसंख्या में अनुसूचित जातियों तथा पिछड़े वर्गों की जनसंख्या 47 प्रतिशत है।

बोध-प्रश्न-1

i) भारत को प्रजातियों का अजायबघर कहा गया है? उक्त पंक्तियों में यह स्पष्ट कीजिए?

.....

.....

.....

.....

.....

iii) भारतीय भाषायी परिवार को कितने भागों में विभक्त किया गया है, यह पाँच पंक्तियों में उल्लेख कीजिए?

7.3 भारत में एकता

भारतीय इतिहास के सभी कालों में देखा गया है कि, भारत में सभी समूहों के लोगों ने पारस्परिक सौहार्द्र को बनाए रखा और एक ऐसी समन्वयकारी संस्कृति को बनाया जो कि, अनेक धर्मा, जातियों, भाषा-भाषी लोगों को आपस में एक धागे में पिरोए रखती है। प्रख्यात मानवशास्त्री हरबर्ट रिजले के अनुसार “शारीरिक भिन्नताओं, सामाजिक विभेदों, रीति-रिवाजों और धर्मों की विभिन्नता के बाद भी भारतीय समाज में एक आश्चर्यजनक एकता मौजूद है जिसे हिमालय से लेकर कन्याकुमारी तक आसानी से देखा जा सकता है”। इसका प्रमुख कारण भारतीय संस्कृति का लचीला दृष्टिकोण है जिसने सभी संस्कृतियों के साथ इतना अच्छा सामंजस्य स्थापित कर लिया कि, वह सभी समय के साथ भारतीय संस्कृति का ही अभिन्न अंग बन गईं। भारत की सांस्कृतिक एकता को बनाए रखने में अनेक भारतीय राजाओं, हिन्दू और मुस्लिम सन्तों तथा समाज सुधारकों ने महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। यही कारण है कि बाहरी तौर पर भले ही इतनी भिन्नताओं के दर्शन होते हैं, पर फिर भी इन सबके बीच भारतीय संस्कृति में एक मौलिक एकता मिलती है, जो कि भारतीय संस्कृति का प्राण मानी जा सकती है। भारतीय संस्कृति और समाज में विविधता में एकता को निम्नलिखित कारकों द्वारा हम यहाँ पर और स्पष्ट करेंगे-

7.3.1 धार्मिक विविधता में एकता

भारतीय समाज की यह अनुपम विशेषता है कि, यहां सभी धर्मों के मानने वाले साथ-साथ रहते हैं और एक-दूसरे की विशेषताओं को ग्रहण करते हैं। एक ही स्थान पर मन्दिर, मस्जिद, गिरिजाघर, गुरुद्वारा होता है, जहाँ वह अपने धर्मानुसार पूजा करते हैं। सभी धर्मों के लोग होली, दीपावली, बुद्ध-पूर्णिमा, गुरु नानक जयन्ती, ईद, क्रिसमस को मनाते हैं और आपस में मिल-जुल कर साथ-साथ आनन्द लेते हैं। भारत में कुछ ऐसे धर्मस्थल हैं जो पूरे देश को एकता की कड़ी में बाँधते हैं। पूर्व में जगन्नाथपुरी तो पश्चिम में द्वारिका, उत्तर में बद्रीनाथ तो दक्षिण में रामेश्वरम् भारत की एकता का ठोस प्रमाण है। राम तथा कृष्ण की लीलाओं का वर्णन पूरे भारत में किया जाता है। ऊपरी तौर पर सभी धर्म भले ही अलग लगे पर सभी की मूल बातें एक ही हैं। सभी धर्म नैतिकता, दया, ईमानदारी, पाप-पुण्य, स्वर्ग-नरक, सत्य, अहिंसा, अध्यात्म में विश्वास रखते हैं। भारत का धर्मनिरपेक्ष स्वरूप इसकी एकता का सबसे बड़ा कारण माना जा सकता है।

7.3.2 भौगोलिक विविधता में एकता

भारत उष्ण और समशीतोष्ण कटिबन्धों की जलवायु का प्रदेश है। यहाँ एक ही समय पर अलग-अलग भागों में सभी ऋतुओं की जलवायु मिलती है। चेरापूँजी में सालभर लगभग 600 “वर्षा होती है तो वहीं राजस्थान के थार-मरूस्थल में 5” से भी कम वर्षा होती है। कोई प्रदेश बहुत उपजाऊ है तो कुछ कम, तो कुछ बंजर भी है। परन्तु यह विभिन्नताएं सबको विभिन्न माध्यमों द्वारा आपस में जोड़ती भी हैं। गंगा, यमुना, कावेरी, नर्मदा, गोदावरी देश के अनेक भागों और उनके रहने वालों को आपस में जोड़ती हैं। विभिन्न क्षेत्रों की जलवायु में उगी वनस्पतियां और खाने का सामान सारे देश में मिलता है। पहाड़ी क्षेत्रों में रहने वाले लोग मैदान से आने वाले पदार्थों तथा मैदान के निवासी पहाड़

से आने वाली कई वस्तुओं पर आश्रित हैं। देश की प्राकृतिक सीमाओं ने इसे अन्य देशों से अलग कर एक साथ रहने को प्रेरित किया है।

7.3.3 भाषायी विविधता में एकता

भारत एक ऐसा राष्ट्र है जहाँ अनेक भाषाएँ बोली जाती हैं। इसीलिए भारतीय संविधान में 18 भाषाओं को मान्यता दी गई है। इतनी भाषाओं का प्रचलन होते हुए भी उनका मूल संस्कृत भाषा में होने के कारण सभी में एकरूपता पाई जाती है। भारत में वैदिक युग से लेकर ईसा के 400 साल पहले तक संस्कृत ही मुख्य भाषा थी। लगभग 2,200 वर्ष पहले संस्कृत से ही पाली भाषा निकली। हिन्दी, बंगाली, मराठी, गुजराती, असमी, उड़िया तथा पंजाबी भाषाओं को भी संस्कृत का स्थानीय रूप माना गया है। तमिल, तेलुगू, कन्नड़ को भी इसने प्रभावित किया है। इसी कारण सभी की वर्णमाला लगभग एक-सी ही है। उर्दू भाषा को भी फारसी और संस्कृत का मेल माना गया है। विलियम के कथनानुसार “भारत में यद्यपि 500 से भी अधिक भाषाएँ और बोलियाँ पाई जाती हैं लेकिन यहाँ का सम्पूर्ण साहित्य, सामाजिक-मूल्य तथा नैतिकता संस्कृत भाषा और संस्कृत साहित्य से ही प्रभावित हैं।” भाषा की यही समानता सभी को एकता के सूत्र में बांधे हुये है।

7.3.4 प्रजातीय एकता

भारत में अनेक प्रजातियाँ आईं तो अवश्य परन्तु अब सभी यहाँ मिश्रित रूप में मिलती हैं। यहाँ उत्तरी भारत में आर्य प्रजाति और दक्षिणी में द्रविड़ प्रजाति की बहुलता है। भारत में संसार की तीन प्रमुख प्रजातियों तथा उनकी उपशाखाओं (सफेद, पीले और काले) के लोग दिखाई देते हैं, जो कि भारत की सभी जगहों में पाए जाते हैं। अतः भारतीय संस्कृति विभिन्न प्रजातीय विशेषताओं से युक्त लोगों के मिश्रित समूह का प्रतिनिधित्व करती है।

7.3.5 राजनैतिक एकता

आजादी के पहले भारत में विभिन्न राज्यों और शासकों का अधिकार था। पर आजादी मिलने के बाद सारा देश एक ही सत्ता के आधीन हुआ और देश में प्रजातन्त्रात्मक शासक का प्रारम्भ हुआ जिसका अर्थ था “जनता का शासन, जनता के द्वारा, जनता के लिए” विभिन्न प्रान्तों के द्वारा एक भारतीय संघ का निर्माण हुआ है। भारतीय संसद में सभी क्षेत्रों, धर्मों और जातियों के लोगों को प्रतिनिधित्व करने का अवसर मिला है। सरकार द्वारा जो भी कानून बनाया जाता है वह सभी के लिए एक समान होता है। समाज के दुर्बल और निम्न वर्गों के लिए योजना बनाना, महिलाओं के लिए पंचायत में आरक्षण कर एक-तिहाई भाग उनके लिए सुरक्षित करना, विकास योजनाओं को चलाना, यह सब पूरे भारत के लिए किए जाते हैं। राजनीतिक दृष्टि से भारत एक इकाई है, इस बात को विदेशी आक्रमणों के समय सभी भारतीयों के एक होकर लड़ने ने सही सिद्ध किया है।

7.3.6 सांस्कृतिक विविधता में एकता

भारत के सभी लोग चाहे वह हिन्दू, मुस्लिम, सिख, इसाई, पारसी किसी भी संस्कृति-धर्म के अनुयायी हों, सभी एक ही रंग में रंग गए हैं। भारतीय शास्त्रीय संगीत पूरे देश में रूचिपूर्वक सुना जाता है। उत्तर-भारत में दक्षिण भारतीय भोजन बड़े चाव से खाया जाता है तो दक्षिण में भी उत्तर के व्यंजन प्रसिद्ध हैं। भारतीय कला भी सांस्कृतिक एकता का उदाहरण है। कई मन्दिरों में मस्जिदों की तरह गोलाकार रचना और कई मस्जिदों में मन्दिरों की कला का प्रयोग मिलता है। मुस्लिमों में भी अब एक विवाह प्रचलित होने लगा है। सभी धर्मों के लोगों का आपस में धर्म, खान-पान के तरीकों, वस्त्र-शैली, भाषा एवं साहित्य आदि विविध क्षेत्रों में व्यवहार और लेन-देन बढ़ा है जिसने सांस्कृतिक एकता को स्थापित किया है।

7.3.7 जातीय विविधता में एकता

भारत में अनेक जातियाँ रहती हैं जिनके अपने अलग आचार-विचार, प्रथाएँ-परम्पराएँ हैं। यह केवल हिन्दुओं में ही नहीं वरन् मुस्लिमों, सिखों, इसाईयों और जैनियों में भी प्रचलित है। एम.एन. श्रीनिवास के अनुसार “एक संस्था के रूप में जाति भारतीयों को एक सामान्य सांस्कृतिक आधार प्रदान करती है। भारत का प्रत्येक व्यक्ति जाति की परिधि में है तथा सभी धार्मिक समूहों में जाति-विभाजन पाया जाता है।” परन्तु यह बात भी सच है कि, सभी समुदायों में जाति-व्यवस्था के मौजूद होते हुए भी जातियों के बीच ऊँच-नीच और सामाजिक पाबन्दियों में बहुत तेजी से ढीलापन आता जा रहा है। यह सामाजिक एकता के लिए बहुत लाभदायक परिवर्तन है।

7.3.8 ग्रामीण-नगरीय विविधता में एकता

गाँव और शहर का जीवन पहले से ही काफी अलग रहा है। जहाँ गाँवों में अधिकांश लोगों का प्रमुख रोजगार कृषि-कार्य था, परिवारों का स्वरूप संयुक्त था, महिलाओं का जीवन घरेलू कार्यों तक सीमित था तो वहीं नगरों और महानगरों में एक अलग ही प्रकार का माहौल था। नगर में उद्योग-धन्धों के खुलने के कारण यहाँ रोजगार का मुख्य जरिया व्यवसाय, उद्योग और नौकरी था। यह स्थिति काफी समय तक रही। परन्तु आज इसमें कुछ परिवर्तन होने लगा है। अब शहर कच्चे माल और सस्ते श्रम की मांग के चलते तथा लोक-संस्कृति और कला की ओर आर्कषण के कारण गाँवों की ओर देख रहे हैं तथा गाँव की आर्थिक स्थिति में सुधार आने के कारण वह अपनी जरूरतों को पूरा करने के लिए शहर की ओर बढ़ रहा है। इस कारण नगर और गाँव में एकीकरण हो रहा है।

उपरोक्त विवरण से इस बात की सत्यता प्रमाणित होती है कि, भारत में प्राचीन-काल से ही अनेक परस्पर विरोधी संस्कृतियों, सभ्यताओं और प्रजातियों के समूहों का आना-जाना बना रहा। इसी

प्रकार यहाँ रहते हुए वह सभी समूह अपने कुछ विचारों, विश्वासों और व्यवहार के साथ कुछ बिन्दुओं पर एकमत हुए और फिर धीरे-धीरे समय बीतने के साथ भारत का ही एक अभिन्न हिस्सा बन गए। इसकी समकालीन अन्य संस्कृतियाँ मिट गयीं पर भारतीय संस्कृति और सभ्यता ने आज भी अपनी निरन्तरता को बनाए रखा है। यह निरन्तरता ही भारतीय संस्कृति और समाज की एकता का मुख्य आधार है। विनोबा भावे जी ने इस उदार और सहिष्णु संस्कृति की विशेषताओं को इस प्रकार कहा है कि, “भारत में अनेक धर्म, भाषाएँ और जातियाँ हैं। यह महान् भूमि अनेक सामाजिक समूहों का संगम-स्थल रही है। इस प्रकार का महान् दृश्य अन्य कोई देश प्रस्तुत नहीं करता- जहाँ भिन्न-भिन्न धर्मों के उपासक और भिन्न-भिन्न जाति के लोग एक साथ बस गए हैं। फिर भी यह उल्लेखनीय है कि सभी लोग भारत को अपना घर, अपना देश मानते हैं।”

बोध-प्रश्न-2

i) निम्न में से कौन सी दशा वर्तमान भारतीय समाज में धार्मिक एकता का वास्तविक आधार है?

- | | |
|-------------------|------------------------------|
| 1. धर्मनिरपेक्षता | 2. लोकतान्त्रिक व्यवस्था |
| 3. विधि का शासन | 4. विभिन्न धर्मों के त्यौहार |

.....

.....

ii) भारतीय समाज में विविधता के बीच एकता का क्या आशय है? पांच पंक्तियों में अपना उत्तर दीजिए।

.....

.....

7.4 सारांश

इस इकाई में हमने भारत में पाये जाने वाली विविधताओं को विभिन्न भाषाओं, धर्मों, संस्कृतियों, प्रजातियों, भौगोलिक और जनांकिकीय विशेषताओं के आधार पर स्पष्ट किया है। पहले यह बताया गया है कि भारत में पायी जाने वाली विविधताएँ किन-किन रूपों में विद्यमान हैं, उसके बाद इन सभी विविधताओं के बीच भारतीय समाज में देखी जा सकने वाली एकता की भावना को इन्हीं आधारों पर समझाया गया है। भारत देश में प्राचीन समय से ही अनेक संस्कृतियों, भाषाओं, स्थानों और प्रजातियों के लोगों का आना-जाना बना रहा। कालान्तर में इनमें से कई जातियाँ, संस्कृतियाँ यहीं रच-बस गईं और धीरे-धीरे यहाँ के वातावरण और संस्कृति में एकाकार होकर एक नई मिली-जुली संस्कृति का रूप ले लिया। आज भारत में जो लोग निवास कर रहे हैं, उनकी अलग-अलग बोलियाँ-भाषाएँ हैं, अलग धर्म-संस्कृति है, अलग नस्ल-प्रजातियाँ हैं और भिन्न मान्यताएँ, रिवाज, प्रथाएँ, मत और विश्वास हैं। परन्तु इतनी भिन्नताओं के होने पर भी यह कहा जा सकता है कि, यह सभी एक भारत का प्रतिनिधित्व करते हैं, एक ही माला के अलग-अलग फूल हैं जो एक ही धागे में पिरोये हुए हैं।

7.5 परिभाषिक शब्दावली

विविधता- इसका अर्थ सामूहिक अंतर है। समूहों और संस्कृतियों की विविधता ही विभिन्नता है।

जाति- एक वंशानुगत, अंतर्विवाही प्रस्थिति समूह जिसका एक विशिष्ट पारंपरिक पेशा होता है।

एकता- समाज के सदस्यों को आपस में जोड़कर रखने वाली भावना।

प्रजाति- समान आनुवांशिक और जैविकीय विशेषता वाले मनुष्यों का वह वर्ग जो उन्हें दूसरे वर्ग से अलग करता है।

मत- वह धार्मिक समूह है जो स्थापित धर्म संस्था द्वारा प्रस्तुत सिद्धांत की व्याख्या से विरोध रख एक सुनिश्चित धारणा के साथ चलना।

7.6 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न-1

- i) विद्यार्थी को इस प्रश्न के उत्तर में प्रजातीय विविधता शीर्षक के अर्न्तगत दिये गये विवरण को लिखना है।
- ii) विद्यार्थी को इस प्रश्न के उत्तर में भाषायी विविधता शीर्षक के अर्न्तगत दिये गये विवरण को लिखना है।

बोध प्रश्न-2

- i) 1. धर्मनिरपेक्षता
- ii) 2. विद्यार्थी को इस प्रश्न के उत्तर में भारत में एकता शीर्षक के अर्न्तगत दिये गये विवरण को लिखना है।

7.7 संदर्भ ग्रंथ सूची

मुकर्जी, रविन्द्रनाथ, 1989, भारतीय समाज व संस्कृति, विवेक प्रकाशन, नई दिल्ली।

हसनैन, नदीम. 2005. समकालीन भारतीय समाज: एक समाजशास्त्रीय परिदृश्य, भारत बुक सेन्टर. लखनऊ.

7.8 सहायक उपयोगी पाठ्य सामग्री

बोस, एन. के., 1967, कल्चर एण्ड सोसाइटी इन इंडिया, एशिया पब्लिशिंग हाउस, बम्बई।

दोषी व जैन, 2009, भारतीय समाज-संरचना एवं परिवर्तन, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली।

मदान, टी. एन. (संपा), 1991, रिलिजन इन इंडिया, ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, नई दिल्ली।

मजूमदार एम. टी., 1979, इंडियन रिलीजियस हेरीटेज: ए कल्चरल हिस्ट्री ऑफ इंडिया, एलाइड पब्लिशिंग प्रा० लि०, नई दिल्ली।

7.9 निबंधात्मक प्रश्न

- 1- भारतीय समाज में धार्मिक, प्रजातीय तथा भाषायी विविधताओं की प्रकृति का वर्णन कीजिए।
- 2- भारतीय समाज विविधता में एकता को प्रदर्शित करने वाले तत्वों की विवेचना कीजिए।

इकाई-8 विवाह: अर्थ, उद्देश्य, प्रकार एवं सिद्धांत

Marriage: Meaning, Aims, Types & Theories

इकाई की रूपरेखा

- 8.0 परिचय
- 8.1 उद्देश्य
- 8.2 विवाह का अर्थ एवं परिभाषाएँ
- 8.3 विवाह का उद्देश्य
- 8.4 विवाह के प्रकार
 - 8.4.1 एक विवाह
 - 8.4.2 बहु विवाह
- 8.5 विवाह की उत्पत्ति के सिद्धांत
- 8.6 विवाह से सम्बंधित नियम
- 8.7 विवाह के अन्य स्वरूप
 - 8.7.1 हिन्दू विवाह
 - 8.7.2 मुस्लिम विवाह
 - 8.7.3 ईसाई विवाह
- 8.8 सारांश
- 8.9 परिभाषिक शब्दावली
- 8.10 अभ्यास-प्रश्नों के उत्तर
- 8.11 संदर्भ ग्रंथ सूची
- 8.12 सहायक उपयोगी पाठ्य सामग्री
- 8.13 निबंधात्मक प्रश्न

8.0 परिचय

विवाह मानव समाज की मूल्य संस्था है। जो व्यक्ति तथा परिवार के जीवन को एक विशेष ढंग से प्रभावित करके सामाजिक व्यवस्था को एक विशेष रूप प्रदान करती है। विवाह की संस्था यौन संबंधों को स्वीकृति और उससे उत्पन्न संतान को वैधता प्रदान करता है वास्तव में विवाह पति-पत्नी के बीच स्थापित होने वाला एक सामान्य संबंध ही नहीं बल्कि यह एक सामाजिक-सांस्कृतिक संस्था है। आदिम से लेकर आधुनिक तक सब समाजों में विवाह की संस्था है परन्तु अलग-अलग समाजों में भिन्नता पाई जाती है भारत में प्रत्येक धार्मिक समुदाय, सांस्कृतिक क्षेत्र और जनजातीय समुदाय में विवाह का विशिष्ट स्वरूप है।

8.1 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के उपरांत आप विवाह के बारे में जानकारी प्राप्त कर सकेंगे तथा विवाह के विभिन्न प्रकार व इसके सिद्धांत के बारे में भी ज्ञान अर्जित कर सकेंगे।

8.2 विवाह का अर्थ एवं परिभाषाएँ

विवाह एक सार्वभौमिक संस्था है जो प्रायः सभी समाजों में पायी जाती है, अंतर सिर्फ इसके स्वरूप को लेकर है। किसी-किसी समाज में विवाह यौन संतुष्टि के लिये नहीं किया जाता बल्कि संपत्ति के बँटवारे को रोकने के लिये भी किया जाता है उदाहरण के लिए नागा जनजाति में पुत्र द्वारा सगी माँ को छोड़कर पिता की अन्य विधवा पत्नियों से विवाह।



लूसीमेंयर के अनुसार विवाह स्त्री पुरुष का ऐसा योग है जिससे जन्मा बच्चा माता-पिता की वैध संतान माना जाता है।

बोगार्डस के अनुसार 'विवाह स्त्री पुरुष का पारिवारिक जीवन में प्रवेश करने की संस्था है।'

मजदूर एवं मदन के अनुसार विवाह संस्था में कानूनी या धार्मिक आयोजन के रूप में उन सामाजिक स्वीकृतियों का समावेश होता है जो विषम लिंगियों की यौन क्रिया और उससे संबंधित सामाजिक आर्थिक संबंधों में सम्मिलित होने का अधिकार प्रदान करती है।

इस प्रकार स्पष्ट है कि विवाह समाज द्वारा स्वीकृत एक सामाजिक संस्था है। यह दो विषम लिंगी व्यक्तियों को यौन संबन्ध स्थापित करने के अधिकार प्रदान करती है। विवाह संबन्ध बहुत ही व्यापक होते हैं। इनमें एक-दूसरे के प्रति भावात्मक लगाव, प्रतिबता, देखभाल, सहायता व एक-दूसरे को निरंतर सहारा देना सम्मिलित है। विवाह के पश्चात् उत्पन्न संतान को ही वैध माना जाता है।

8.3 विवाह का उद्देश्य

मुर्डाक ने विश्व के 250 समाजों के अध्ययनोपरांत विवाह के तीन उद्देश्यों का उल्लेख किया-

- ❖ यौन संतुष्टि
- ❖ आर्थिक सहयोग
- ❖ संतानों का समाजीकरण एवं लालन-पालन

8.4 विवाह के प्रकार

विभिन्न समाजों में पाये जाने वाले विवाह क स्वरूपों को दो भागों में विभाजित किया जा सकता है-

8.4.1 एक विवाह

एक विवाह में एक समय में एक पुरुष एक ही स्त्री से विवाह करता है। वर्तमान में एक विवाह को विवाह का सर्वश्रेष्ठ रूप समझा जाता है। वेस्टमार्क ने 'एक विवाह को ही विवाह का आदि स्वरूप माना है।'

एक विवाह दो प्रकार का होता है:-

क्रमिक एक विवाह:- इस प्रकार के विवाह में एक समय में पुरुष का एक ही स्त्री से ही संबंध होता है परन्तु वह किसी एक को छोड़कर या मृत्यु के बाद दूसरे से विवाह कर लेता है।

एकल विवाह:- एकल परिवार में केवल एक स्त्री का विवाह एक ही पुरुष से होता है। किसी एक की मृत्यु के बाद भी वह दूसरा विवाह नहीं करते।

8.4.2 बहुविवाह

जब एकाधिक पुरुष अथवा स्त्रियाँ विवाह बंधन में बँधते हैं तो ऐसे विवाह को बहु-विवाह कहते हैं। बहु-विवाह के प्रमुख चार रूप पाये जाते हैं।

(क) बहुपति विवाह - एक स्त्री का कई पतियों के साथ विवाह बहुपति विवाह कहलाता है। बहुपति विवाह के भी दो रूप पाये जाते हैं।

(i) **भ्रातृक बहुपति विवाह (Fraternal Polyandry)**- इस प्रकार के विवाह में पति आपस में भाई होते हैं उदाहरणस्वरूप- खस, टोडा एवं कोटा जनजाति।

(2) **अभ्रातृक बहुपति विवाह (Non Fraternal Polyandry)**- इस प्रकार विवाह में पति आपस में भाई नहीं होते हैं जैसे- नाया।

वैस्टरमाके के अनुसार लिंग, अनुपात का असंतुलित होना ही बहुपति विवाह का कारण है। समनर कनिंघम एवं डॉ. सक्सेना बहुपति विवाह के लिये गरीबी को मुख्य कारण मानते हैं।

(ख) **बहुपत्नी विवाह (Polygamy)** - ऐसा विवाह जिसमें एक पुरुष एकाधिक स्त्रियों से विवाह करता है। उदाहरणस्वरूप- नागा, गोंड, बैगा, भील, टोडा, लुशाई, नम्बूद्री ब्राह्मण में ऐसा विवाह पाया जाता है। यह भी विभिन्न प्रकार के होते हैं।

(1) **द्वि-पत्नी विवाह (Biogamy)** - इस प्रकार के विवाह में एक पुरुष एक साथ दो स्त्रियों से विवाह करता है। कई बार पहली स्त्री के संतान न होने पर दूसरा विवाह कर लिया जाता है जैसे- आरगेन व एस्कमो जनजातियों में यह प्रथा प्रचलित है।

(2) **समूह विवाह (Group Marriage)** - समूह विवाह में पुरुषों का एक समूह स्त्रियों के एक समूह से विवाह करता है और समूह कपल प्रत्येक पुरुष समूह को प्रत्येक स्त्री का पति होता है। विवाह की प्रारंभिक अवस्था में यह स्थिति रही होगी, ऐसी उद्विकासवादियों की धरणा है।

अधिमान्य विवाह

इसमें जीवन साथी क चुनाव के लिए किसी एक समूह को वरीयता दी जाती है अर्थात् व्यक्ति को पहले से ही यह पता होता है कि उसे अपना जीवनसाथी किस समूह से प्राप्त करना है। अधिमान्य विवाह मुख्यतः तीन प्रकार का होता है-

(1) **सहोदरज विवाह (Cousin Marriage)** - एक ही भाई बहिन के संतानों के बीच होने वाला विवाह सहोदरज विवाह कहलाता है। यह प्रमुखतः दो प्रकार का होता है-

(क) **सलिंग सहोदरज विवाह (Parallel Cousin Marriage)** - एक ही लिंग की सहोदरजों की संतानों; चचेरे-मौसरे भाई बहिन के बीच होने वाले विवाह को सलिंग सहोदरज विवाह कहते हैं। लेवी स्ट्रास इस प्रकार के विवाह का उल्लेख करते हैं। यह प्रमुखतः अरब लोगों तथा मुस्लिम धर्मावलंबियों में पाया जाता है।

(ख) **विलिंग सहोदरज विवाह (Cross Cousin Marriage)** - टायलर द्वारा इस प्रकार के विवाह का उल्लेख किया गया है जिसमें विषमलिंगी सहोदरों की संतानों; ममेरे-फुफेरे, भाई-बहन, के बीच विवाह होता है। इस प्रकार के विवाहों के दो प्रमुख रूप प्रचलित हैं। पिता की बहन; बुआ के लड़के और माँ के भाई; मामा की लड़की के बीच वरीयता दिए जाने वाले विवाह को 'मातृपक्षीय' विलिंग सहोदरज विवाह कहा जाता है। इसके विपरीत, जहाँ माँ के भाई; मामा के लड़के और बुआ की लड़की के बीच विवाह को वरीयता दी जाती है तो यह पितृपक्षीय विलिंग सहोदरज विवाह कहलाता है।

(2) **देवर विवाह/भाभी विवाह (Levirate)** - इसमें मृतक पति के छोटे भाई से विवाह सम्पन्ना होता है। भारतीय समाज में निम्न जातियों में विशेषकर पश्चिमी उत्तर प्रदेश तथा हरियाणा के अहिर जाति में यह प्रचलित है। खरिया, संधाल जनजाति में भी यह विवाह पाया जाता है।

(3) **साली विवाह (Sororate)** - में मृतक पत्नी की बहिन से विवाह होता है। कभी-कभी अपवाद स्वरूप संतान प्राप्ति के लिए भी इस प्रकार का विवाह होता है। गोंड व खरिया में विशेष रूप से प्रचलित है।

बोध प्रश्न 1.

(i) एक ही भाई बहिन के संतानों के बीच होने वाला विवाह कोन सा विवाह कहलाता है।

.....

(ii) किस विवाह में पुरुष का एक समय में एक ही स्त्री से ही संबंध होता है परन्तु वह किसी एक को छोड़कर या मृत्यु के बाद दूसरे से विवाह कर लेता है।

.....

.....

8.5 विवाह की उत्पत्ति के सिद्धांत

मैकाइवर का कहना है कि उत्पत्तियाँ सदैव अस्पष्ट होती हैं। इसके बारे में सिर्फ अनुमान या कल्पना ही की जा सकती है। विवाह की उत्पत्ति के संबंध में निम्न विचार प्रचलित हैं-

(i) मार्गन का उद्विकसीय सिद्धांत

मार्गन का मत है कि विवाह संस्था का विकास हुआ है। समाज की प्रारंभिक अवस्था में विवाह नामक संस्था का अभाव था। प्रारंभ में समाज में यौन साम्यवाद की स्थिति थी। पुरुष को किसी भी स्त्री से यौन संबंध स्थापित करने की स्वतंत्रता थी। धीरे-धीरे मानव समाज के विकास के साथ ही विवाह संस्था का क्रमिक विकास हुआ है जिसकी मुख्य निम्न अवस्थाएँ हैं।

- समूह विवाह

- सिण्डेस्मियन विवाह
- व्यवस्थित विवाह

बैकोफन ने विवाह की उत्पत्ति की तीन अवस्थाओं का उल्लेख किया है-

- बहुपति विवाह
- बहुपत्नी विवाह
- एक विवाह

(ii) वेस्टमार्क का सिद्धांत

वेस्टमार्क का कहना है कि मनुष्य पशु से भिन्न होता है। मनुष्य में अपनत्व एवं ईर्ष्या की भावना पायी जाती है, इसलिए जिसके साथ वह एक बार यौन संबन्ध स्थापित कर लेता था तो उसको अपना मानता था। इसलिए एक विवाह मानव समाज में विवाह का स्थायी रूप था और है। बहुपति या बहुपत्नी विवाह तो केवल वैवाहिक आदर्शों का उल्लंघन मात्र है।

8.6 विवाह से सम्बंधित नियम

प्रत्येक समाज में विवाह से संबंधित कुछ नियम पये जाते हैं। जीवन साथी के चुनाव के दौरान तीन बातों का ध्यान रखा जाता है-

- (1) चुनाव का क्षेत्र
- (2) चुनाव का पक्ष
- (3) चुनाव की कसौटियाँ

हिन्दू विवाह से संबंधित नियमों को हम चार भागों में बाँट सकते हैं-

(1) **अंतर्विवाह (Endogamy)**- अंतर्विवाह का तात्पर्य है, एक व्यक्ति अपने जीवन साथी का चुनाव अपने ही समूह से करे। यह समूह अलग-अलग लोगों के लिए अलग-अलग हो सकता है। डॉ. रिवर्स के अनुसार “अंतर्विवाह से अभिप्राय उस विनियम से है जिसमें समूह में ही विवाह साथी चुनना अनिवार्य होता है।”

(2) **बहिर्विवाह (Exogamy)** - बहिर्विवाह से तात्पर्य है एक व्यक्ति जिस समूह का सदस्य है उससे बाहर विवाह करे। डॉ. रिवर्स के शब्दों में, “बहिर्विवाह से बोध होता है कि वह दूसरे सामाजिक समूह से अपना जीवन-साथी ढूँढे।”

हिन्दुओं में प्रचलित बहिर्विवाह के स्वरूप निम्न हैं-

(क) **गोत्रा बहिर्विवाह:-** हिन्दुओं में सगोत्रा विवाह निषेध है। गोत्रा का सामान्य अर्थ उन व्यक्तियों के समूह से है जिनकी उत्पत्ति एक ऋषि पूर्वज से हुई है। गोत्रा शब्द के तीन या चार अर्थ हैं जैसे- गौशाला, गाय का समूह, किला तथा पर्वत आदि। इस प्रकार एक घरे में या स्थान पर रहने वाले लोगों में परस्पर विवाह वर्जित था। गोत्रा का शाब्दिक अर्थ गो□त्रा अर्थात् गायों के बाँधने का स्थान। जिन लोगों की गायें एक स्थान पर बँधती थी, उनमें नैतिक संबन्ध बन जाते थे और संभवतः वे रक्त संबंधी भी होते थे। अतः वे परस्पर विवाह नहीं करते। हिन्दू विवाह अधिनियम, 1955 द्वारा वर्तमान में सगोत्रा बहिर्विवाह से प्रतिबंध हटा दिया गया है, किन्तु व्यवहारों में आज भी इसका प्रचलन है।

(ख) **सप्रवर बहिर्विवाह (Saprarvar Exogamy)**- समान पूर्वज एवं समान ऋषियों के नामों का उच्चारण करने वाले व्यक्ति अपने को एक ही प्रवर सम्बर्द मानते हैं। एक प्रवर में विश्वास करने

वाले विवाह नहीं करते। हिन्दू विवाह अधिनियम, 1955 द्वारा सप्रवार विवाह संबंधी निषेध को समाप्त कर दिया गया है।

(ग) **सपिण्ड बहिर्विवाह (Spinal Exogamy)** इरावती कर्वे सपिण्डता का अर्थ बताती हैं- जैसे सपिण्ड अर्थात् मृत व्यक्ति को पिण्डदान देने वाले या उसके रक्तकरण से संबंधित लोग। मिताक्षरा के अनुसार वे सभी जो एक ही शरीर से पैदा हुए हैं सपिण्डी हैं। वशिष्ठ ने पिता की ओर से सात व माता की ओर पाँच, गौतम ने पिता की ओर से आठ व माता की ओर से छः पीढ़ियों तक के लोगों से विवाह करने पर प्रतिबंध लगाया है।

हिन्दू विवाह अधिनियम, 1955 ने सपिण्ड बहिर्विवाह को मान्यता प्रदान की है। माता एवं पिता दोनों पक्षों से तीन-तीन पीढ़ियों के सपिण्डियों में परस्पर विवाह पर रोक लगा दी गयी है। फिर भी यदि किसी समूह की प्रथा अथवा परंपरा इसे निषेध नहीं मानती है तो ऐसा विवाह भी वैध माना जाएगा।

(घ) **ग्राम बहिर्विवाह (Village Exogamy)**- ग्राम बहिर्विवाह की प्रथा भी काफी प्राचीन है। पंजाब एवं दिल्ली में उस गाँव में भी विवाह वर्जित है जिसकी सीमा व्यक्ति के गाँव से मिलती है।

(ङ) **टोटम बहिर्विवाह (Totem Exogamy)**- इस प्रकार का नियम जनजातियों में प्रचलित है। टोटम कोई भी एक पशु, पक्षी, पेड़, पौध अथवा निर्जीव वस्तु हो सकती है जिसे एक गोत्रा के लोग आदर की दृष्टि से देखते हैं, उससे आध्यात्मिक संबन्ध जोड़ते हैं। टोटम पर विश्वास करने वाले लोग परस्पर भाई-बहिन समझे जाते हैं। अतः वे परस्पर विवाह नहीं करते।

(3) **अनुलोम विवाह (Anuloma or Hypergamy)**- जब एक उच्च वर्ण, जाति, उपजाति, कुल एवं गोत्रा के लड़के का विवाह ऐसी लड़की से किया जाए जिसका वर्ण, जाति, उपजाति, कुल

एवं गोत्रा लड़के से नीचा हो तो ऐसे विवाह ही अनुलोम विवाह कहते हैं। अन्य शब्दों में, इस प्रकार के विवाह में लड़का उच्च सामाजिक समूह का होता है और लड़की निम्न सामाजिक समूह की।

(4) **प्रतिलोम विवाह** (Pratiloma or Hypogamy)- इस प्रकार के विवाह में लड़की उच्च वर्ण, जाति तथा उपजाति या कुल की होती है जबकि लड़का निम्न वर्ण, जाति, उपजाति या कुल का होता है। कपाड़िया के शब्दों में, “निम्न वर्ण के व्यक्ति का उच्च वर्ण की स्त्री के साथ विवाह प्रतिलोम विवाह कहलाता है।” प्रतिलोम विवाह से उत्पन्न होने वाली संतान की कोई जाति नहीं होती है। हिन्दू शास्त्रों ने इस प्रकार के विवाह को निषेद्ध ही नहीं माना है बल्कि इसका विरोध भी किया है। ध्यातव्य है कि हिन्दू विवाह वैधता अधिनियम-1949 एवं हिन्दू विवाह अधिनियम-1955 के द्वारा अनुलोम व प्रतिलोम विवाह दोनों को ही वैध माना गया है।

बोध प्रश्न-2

(i) वह विवाह क्या कहलाता है जिसमें में लड़का उच्च सामाजिक समूह का होता है और लड़की निम्न सामाजिक समूह की.....

.....

(ii) अंतर्विवाह का तात्पर्य है, एक व्यक्ति अपने जीवन साथी का चुनाव अपने ही समूह से करें। सत्य /असत्य.....

.....

8.7 विवाह के अन्य स्वरूप

8.7.1 हिन्दू विवाह

पश्चिमी समाजों से भिन्न हिन्दू समाज में विवाह को एक धार्मिक संस्कार माना जाता है। विवाह के पश्चात् ही कोई हिन्दू धार्मिक क्रियाओं को करने का अधिकारी होता है। इसलिए हिन्दू विवाह का मुख्य उद्देश्य धार्मिक है। अतः एक हिन्दू के जीवन में विवाह की अत्यावश्यक माना गया है।

पी.एन. प्रभु का कहना है कि, “हिन्दू विवाह एक संस्कार है” (Hindu Marriage is a Sacrament) - के. एम. कपाड़िया भी कहते हैं कि, “हिन्दू विवाह एक धार्मिक संस्कार है। यह पवित्रा समझा जाता है क्योंकि यह तभी पूर्ण होता है जब यह पवित्रा मंत्रों के साथ किया जाए।”

हिन्दू विवाह के स्वरूप या प्रकार

मनु के अनुसार विवाह के आठ स्वरूप हैं जिनमें चार; बह्म, दैव, आर्ष, प्रजापत्य उच्चकोटि के जबकि चार; असुर, गान्धर्व, राक्षस व पैशाच विवाह निम्न कोटि के माने जाते हैं। प्रथम चार विवाहों को प्रशस्ति; श्रेष्ठ एवं धर्मानुसार व बाद के चार विवाहों को अप्रशस्ति; निकृष्ट कोटि के विवाह की श्रेणी में रखा गया है। हिन्दू विवाह के स्वरूप निम्नलिखित हैं-

1. **बह्म विवाह:-** सुन्दर व गुणवान वर को अपने घर बुलाकर वस्त्र आदि देकर कन्यादान करना ही बह्म विवाह है। इस विवाह से उत्पन्न पुत्र इक्कीस पीढ़ियों को पवित्र करने वाला होता है। वर्तमान समय में प्रचलित विवाह बह्म विवाह का ही स्वरूप है।

2. **दैव विवाह:-** यह एक प्रतीकात्मक विवाह है जिसमें यज्ञ कराने वाले पुरोहित को कन्यादान दिया जाता है। ऐसा माना जाता है कि ऐसे विवाह देवताओं के साथ होता है। इससे देवदासी प्रथा का जन्म हुआ, जो वेश्यावृत्ति का कारण माना जाता है। अतः इसका विरोध किया जाने लगा है।
3. **आर्ष विवाह:-** आर्ष से तात्पर्य ऋषि से है। जब विवाह के लिए इच्छुक ऋषि द्वारा कन्या के पिता को एक जोड़ी बैल और एक गाय दी जाती है। तब विवाह सम्पन्न होता है यह बधू मूल्य नहीं है बल्कि पिता को इस बात का आश्रसन है कि वह जिसे अपनी पुत्री सौंप रहा है, वह उसका उचित निर्वाहन का सकेगा।
4. **प्रजापात्य विवाह:-** यह बह्य विवाह के ही समान है लेकिन इसमें कन्या के पिता द्वारा वर वधू को आशीर्वाद देते हुए इस वाक्य का उच्चारण किया जाता है- 'तुम दोनों एक साथ मिलकर आजीवन धर्म का आचरण करो।'
5. **असुर विवाह:-** यह एक निम्न कोटि का विवाह माना जाता है जिसमें कन्या का पिता कन्या का मूल्य लेकर विवाह करता है। इसे सामान्यतः बेटी बेचवा कहकर समाज में आलोचना की जाती है।
6. **गान्धर्व विवाह:-** यह प्रेम विवाह है जो आजकल नई पीढ़ी में देखने को मिलता है।
7. **राक्षस विवाह:-** युद्ध में स्त्री का हरण करके जब उससे विवाह किया जाता है, तो वह राक्षस विवाह कहलाता था। चूँकि यहाँ से प्रत्यक्ष सम्पर्क क्षत्रियों का था इस कारण इस प्रकार का विवाह विशेष रूप से क्षत्रियों के लिए था। इसलिए इसे 'क्षत्रिय विवाह' भी कहते हैं।
8. **पैशाच विवाह:-** मनु कहते हैं कि "सोयी हुई उन्मत्त, घबराई हुई, मदिरापन की हुई अथवा राह में जाती हुई लड़कियों के साथ बलपूर्वक कुकृत्य करने के बाद उससे विवाह करना पैशाच विवाह है।" यह विवाह सभी विवाहों में निम्नकोटि का विवाह है।

विवाह के परंपरागत स्वरूपों में आज केवल तीन प्रकार के विवाहों का ही प्रचलन है। ये हैं- ब्रह्म विवाह, असुर विवाह तथा गान्धर्व विवाह। ब्रह्म विवाह का प्रचलन सर्वाधिक है जबकि गान्धर्व विवाह का उससे कम।

8.7.2 मुस्लिम विवाह

हिन्दुओं के विपरीत मुस्लिमों में विवाह को एक संविदा (Contract) माना जाता है तथा 'कुरान' इसका मुख्य स्रोत है। सामान्यतः मुस्लिमों में विवाह के लिए 'निकाह' शब्द का प्रयोग किया जाता है जिसका शाब्दिक अर्थ 'लिंगों का मेल' (Union of sexes) है। इस्लामी वैधानिक मान्यताओं के अनुसार निकाह एक कानूनी संविदा है जिसका लक्ष्य पति-पत्नी के यौन संबंधों तथा उनकी संतान के संबंधों व उनके पारस्परिक अधिकारों तथा कर्तव्यों को वैधता प्रदान करना है।

डी.एफ. मुल्ला (Principle of Muslim Law)- के अनुसार, "निकाह को एक संविदा रूप में परिभाषित किया जाता है जिसका उद्देश्य संतानोत्पत्ति और संतान को वैधता प्रदान करना है।"

मुस्लिम विवाह की संविदात्मक प्रकृति स्पष्ट होती है। मुस्लिम विवाह मुख्यतः एक समझौता है जिसका उद्देश्य यौनिक संबंधों और बच्चों के प्रजनन को कानूनी रूप देना है तथा समाज के हित में पति-पत्नी और उनसे उत्पन्न संतानों के अधिकारों व कर्तव्यों को निर्धारित करके सामाजिक जीवन का नियमन करना है। संविदा में सामान्यतः तीन विशेषताएँ पायी जाती हैं-

- (1) दोनों पक्षों की स्वतंत्रा सहमति
- (2) स्वीकृति के रूप में कुछ न कुछ पेशगी
- (3) मुस्लिम विवाह में ये तीनों बातें आ जाती हैं।

मुस्लिम विवाह की शर्तें-

मुस्लिम विवाह की कुछ प्रमुख शर्तें हैं-

- सही मस्तिष्क का व्यक्ति जिसकी उम्र 15 वर्ष से कम न हो। संरक्षक की देखरेख में नाबालिक विवाह भी हो सकता है।
- निकाह के लिए दोनों पक्ष स्वतंत्र हो।
- काजी के सामने निकाह का कबूलनामा इकरार होता है।
- निकाह में दो गवाहों का होना आवश्यक है। गवाहों के मामले में दो स्त्रियाँ एक पुरुष के बराबर मानी गयी हैं।
- विवाह के प्रतिफल के रूप में मेहर की राशि निश्चित कर ली जाती है या भुगतान कर दिया जाता है।
- दोनों पक्ष निषेध संबंधों की अंतर्गत न आते हो।

8.7.3 ईसाई विवाह

हिन्दुओं के समान ईसाइयों में भी विवाह को एक पवित्रा बंधन माना जाता है। एक पुरुष और एक स्त्री का पवित्रा मिलन ही विवाह है। ईसाइयों में विवाह के दो स्वरूप होते हैं- धर्मिक विवाह, तथा सिविल विवाह। धर्मिक विवाह में चर्च व पादरी की भूमिका प्रमुख होती है लेकिन अदालत से विवाह संपन्ना होने के पश्चात् भी पादरी का आशीर्वाद प्राप्त किया जाता है। 1872 के भारतीय ईसाई विवाह अधिनियम के अनुसार, विवाह के लिए लड़के, लड़कियों की न्यूनतम आयु क्रमशः 16 वर्ष

और 13 वर्ष होनी चाहिए ईसाइयों में अधिकांश विवाह धार्मिक विवाह ही होते हैं, जो गिरजाघर में सम्पन्न किये जाते हैं।

ईसाई विवाह का मुख्य उद्देश्य:- ईसाई विवाह के दो मुख्य उद्देश्य हैं-

- (1) यौन इच्छा की संतुष्टि
- (2) संतानोत्पत्ति

ईसाइयों में विवाह-विच्छेद - ईसाइयों में विवाह विच्छेद को अच्छा नहीं माना जाता। पिछले भी ईसाइयों में तलाक, विवाह-विच्छेद 'भारतीय विवाह विच्छेद अधिनियम, 1869' (The Indian Divorce Act, 1869) द्वारा होता है। इस नियम का लाभ प्राप्त करने के लिए किसी एक पक्ष अर्थात् वर या वधू का ईसाई होना आवश्यक है। इस अधिनियम के अनुसार विवाह-विच्छेद की निम्न शर्तें हैं-

- पति ने ईसाई धर्म छोड़कर अन्य स्त्री के साथ विवाह कर लिया है।
- पति ने दूसरा विवाह कर लिया है।
- पति ने बलात्कार या सौदेबाजी या पशुओं के साथ मैथुन किया हो।

8.8 सारांश

इस इकाई के माध्यम से आप ये जान सके की, विवाह मानव समाज की मूल्य संस्था है जो व्यक्ति तथा परिवार के जीवन को एक विशेष ढंग से प्रभावित करके सामाजिक व्यवस्था को एक विशेष रूप प्रदान करती है। विवाह की संस्था यौन संबंधों को स्वीकृति और उससे उत्पन्न संतान को वैधता प्रदान करता है। वास्तव में विवाह पति-पत्नी के बीच स्थापित होने वाला एक सामान्य संबंध ही नहीं

बल्कि यह एक सामाजिक-सांस्कृतिक संस्था है। इस इकाई में विभिन्न धर्मों की विवाह परम्परा का विस्तृत चित्रण प्रस्तुत किया गया। विवाह एक सार्वभौमिक संस्था है जो प्रायः सभी समाजों में पायी जाती है, अंतर सिर्फ इसके स्वरूप को लेकर है।

8.9 परिभाषिक शब्दावली

- | | | | |
|----|-----------------|---|--|
| 1. | एक विवाह | - | एक ही स्त्री से विवाह। |
| 2. | बहुपति विवाह | - | एक स्त्री कई पति। |
| 3. | बहु पत्नी विवाह | - | ऐसा विवाह जिसमें एक पुरुष एकाधिक स्त्रियों से विवाह। |
| 4. | अधिमान्य विवाह | - | जीवन साथी के चुनाव के लिये किसी एक समूह को वरीयता। |
| 5. | देवर विवाह | - | मृतक पति के छोटे भाई से विवाह। |
| 6. | अंत विवाह | - | अपने समूह से जीवन साथी का चुनाव। |
| 7. | बहिविवाह | - | अपने समूह से बध्न विवाह। |

8.10 अभ्यास-प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1

- (i) सहोदरज विवाह

(ii) क्रमिक एक विवाह

बोध प्रश्न -2

(i) अनुलोम

(ii) सत्य

8.11 संदर्भ ग्रंथ सूची

1. हेरोलम्बस, एम, समाजशास्त्रा थीम्स एण्ड प्रेसपेक्टिव, न्यू दिल्ली, आक्सफार्ड

यूनीवर्सिटी प्रेस, 1989।

2. जॉनसन, हेरी एम., समाजशास्त्रा ए सिस्टेमेंटिक इनट्रोडक्सन, न्यू दिल्ली, ऐलाईड

पब्लिसर्स, प्राइवेट लिमिटेड, 1983।

3. मर्डाक, जार्ज पी., सामाजिक संरचना, न्यूयार्क, मैक्मिलन, 1949।

4. पी.एच. प्रभु, हिन्दू सोशल आर्गनाइजेशन, पॉपुलर प्रकाशन, मुम्बई।

5. पी. ओबेराय, फेमिली मैरिज एण्ड किनशिप, आक्सफार्ड यूनिवर्सिटी प्रेस,

आक्सफार्ड।

6. दुर्खीम, ईमाइल, एलीमेंट्री फौम्स ऑफ रिलिजियस लाइफ, जार्ज. एलन एंड

अनविन लि, लंदन, 1930।

8.12 सहायक उपयोगी पाठ्य सामग्री

बोस, एन. के. , 1967, कल्चर एण्ड सोसाइटी इन इंडिया, एशिया पब्लिशिंग हाउस, बम्बई।

दोषी व जैन, 2009, भारतीय समाज-संरचना एवं परिवर्तन, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली।

मदान टी. एन. (संपा), 1991, रिलिजन इन इंडिया, ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, नई दिल्ली।

8.13 निबंधात्मक प्रश्न

1. विवाह की विशेषताएँ एवं उद्देश्यों का वर्णन करो?
2. विवाह के प्रकार एवं विवाह की उत्पत्ति के सिद्धांत बताइएँ?
3. विभिन्न धर्मों के विवाहों का वर्णन कीजिए?

इकाई-9

परिवार: अर्थ, विशेषताएं एवं प्रकार

Family: Meaning, Characteristics & Types

इकाई की रूपरेखा

- 9.0 परिचय
- 9.1 उद्देश्य
- 9.2 परिवार की अवधारणा एवं परिभाषाएँ
- 9.3 परिवार की विशेषताएँ
- 9.4 परिवार के प्रकार
- 9.5 परिवार के प्रकार्य
- 9.6 परिवार के महत्वपूर्ण स्वरूप
- 9.7 सारांश
- 9.8 परिभाषिक शब्दावली
- 9.9 अभ्यास-प्रश्नों के उत्तर
- 9.10 संदर्भ ग्रंथ सूची
- 9.11 सहायक उपयोगी पाठ्य सामग्री
- 9.12 निबंधात्मक प्रश्न

9.0 परिचय

समाज की एक आधारभूत इकाई परिवार है, जो मानव के विकास के सभी स्तरों पर पायी जाती रही है, चाहे इसके रूप एवं प्रकार भिन्न-भिन्न क्यों न रहे हों, परिवार की समाज की वह इकाई है, जिसके साथ व्यक्ति का संबंध जन्म से लेकर मृत्यु तक रहता है परिवार के द्वारा ही व्यक्ति का समाजीकरण होता है व परिवार के द्वारा ही उसे सुरक्षा मिलती है

9.1 उद्देश्य

इस इकाई का मुख्य उद्देश्य परिवार, परिवार की विशेषताएं व परिवार के प्रकार तथा परिवार के प्रकार्य के बारे में पूर्ण जानकारी प्रदान करना है ताकि आप परिवार के बारे में ज्ञान अर्जित कर सकें।

9.2 परिवार की अवधारणा एवं परिभाषाएँ

परिवार सामाजिक व्यवस्था का महत्वपूर्ण आधार स्तम्भ है, जिसका व्यक्ति के जीवन में प्राथमिक महत्व है। परिवार सामाजिक संगठन की एक सार्वभौमिक एवं सार्वकालिक निर्माणक इकाई है। परिवार के द्वारा ही सामाजिक सम्बन्ध का निर्माण होता है, जो समाजशास्त्र की मूल विषय वस्तु है। मानव में सदैव जीवित रहने की इच्छा होती है जिसे परिवार द्वारा वह पूरा करता है। मैलिनोवस्की (Sex and Repression in



savage society) कहते हैं कि “परिवार ही एक ऐसा समूह है जिसे मनुष्य पशु अवस्था से अपने साथ लाया है।”

एल्मर अपनी पुस्तक ‘Sociology of Family’ में लिखते हैं कि ‘Family’ शब्द का उद्गम लैटिन शब्द ‘Famulus’ से हुआ है जो एक ऐसे समूह के लिये प्रयुक्त हुआ है जिसमें माता-पिता, बच्चे, नौकर व दास हों।’

परिवार एक ऐसी संस्था है जिसकी परिभाषा ऐसी नहीं दी जा सकती है जो सभी देश, कालों के परिवारों के लिये सही हो। इसका मुख्य कारण यह है कि परिवार के रूप एक संस्कृति से दूसरी संस्कृति में बदलते रहते हैं। कहीं पर एक विवाह प्रथा मान्य है तो कहीं पर बहु विवाह। एक विवाह और बहु विवाह का प्रभाव परिवार पर पड़ता है। इन्हीं सब बातों को दृष्टि में रखते हुए डनलप महोदय ने कहा कि परिवार की कोई सार्वभौमिक परिभाषा नहीं दी जा सकती है।

परिवार को साधारणतया परिवार को एक ऐसे समूह के रूप में परिभाषित किया जा सकता है जिसमें पति, पत्नी और उनके बच्चे पाये जाते हैं तथा जिसमें इन बच्चों की देख-रेख तथा पति-पत्नी के अधिकार व कर्तव्यों का समावेश होता है।

(1) **मैकाइवर व पेज-** “परिवार पर्याप्त निश्चित यौन संबन्ध द्वारा परिभाषित एक ऐसा समूह है जो बच्चों के जनन एवं लालन-पालन की व्यवस्था करता है।”

(2) **लूसीमेंयर के अनुसार,** “परिवार एक गार्हस्थ समूह है जिसमें माता-पिता और संतान साथ-साथ रहते हैं। इसके मूल में दंपत्ति और उसकी संतान रहती है।”

(3) **किंग्सले डेविस के अनुसार,** “परिवार ऐसे व्यक्तियों का समूह है जिसमें सगोत्रता के संबन्ध होते हैं और जो इस प्रकार एक-दूसरे के संबन्धी होते हैं।”

(4) बर्गोस व लॉक के अनुसार, “परिवार व्यक्तियों के उस समूह का नाम है जिसमें वे विवाह, रक्त या दत्तक संबन्ध से संबंधित होकर एक गृहस्थी का निर्माण करते हैं, एवं एक दूसरे पर स्त्री-पुरुष, माता-पिता, पुत्र-पुत्री, भाई-बहन इत्यादि के रूप में प्रभाव डालते व अंतःक्रिया करते हुए एक सामान्य संस्कृति का निर्माण करते हैं।”

ऑगबर्न और निमकॉफ - “जब हम परिवार के बारे में सोचते हैं तो हमारे समक्ष एक ऐसी कम या अधिक स्थायी समिति का चित्र आता है। जिसमें पति एवं पत्नी अपने बच्चों के साथ या बिना बच्चों के रहते हैं। या एक ऐसे अकेले पुरुष या अकेली स्त्री की कल्पना आती है जो अपने बच्चों के साथ रहते हैं।” परिवार को एक समिति मानते हुए ऑगबर्न और निमकॉफ ने इसे भिन्न लिंग व्यक्तियों के बीच होने वाले समझौते के परिणामस्वरूप सतानोत्पत्ति की सामाजिक वैधता के रूप में स्पष्ट किया है परिवार तब भी परिवार जब उसमें बच्चे नहीं हैं यह अकेली माता अथवा अकेले पिता के साथ बच्चों सहित भी परिवार ही है।

उपर्युक्त परिभाषाओं से स्पष्ट है कि परिवार जैविकीय संबंधों पर आधारित एक सामाजिक समूह है जिसमें माता-पिता और उनकी संतानें होती हैं तथा जिसका उद्देश्य अपने सदस्यों के लिये भोजन, प्रजनन, यौन सन्तुष्टि, समाजीकरण संबंधी आवश्यकताओं की पूर्ति करना है।

इस प्रकार परिवार के निम्नलिखित पाँच तत्वों का उल्लेख किया जा सकता है-

- स्त्री-पुरुष का यौन सम्बन्ध (Mating relationship)
- यौन संबंधों को विधिपूर्वक स्वीकार किया जाता है।
- संतानों की वंश व्यवस्था (Reckoning of descent)
- सह निवास (Child & Rearing)

बोध-1

i) 'Sociology of Family' नामक पुस्तक किसके द्वारा लिखी गए है।

.....

.....

9.3 परिवार की विशेषताएँ

- **सावैभौमिकता** - परिवार एक सार्वभौमिक इकाई है। परिवार हर समाज, हर काल, देश व परिस्थिति में पाये जाते हैं, चाहे इनका स्वरूप कुछ भी हो। समाज का इतिहास ही परिवार का इतिहास रहा है। क्योंकि जब से मानव का जन्म इस धरती पर हुआ है तभी से परिवार रहा है। चाहे पहले उसका स्वरूप भले ही कुछ रहा हो।
- **भावात्मक आधार** - परिवार का आधार व्यक्ति की वे भावनाएं हैं जिनकी पूर्ति के लिये उसने परिवार का निर्माण किया है, जैसे- राम, वात्सल्य, यौन, सहयोग, सहानुभूति इत्यादि।
- **सृजनात्मक प्रभाव** - व्यक्ति परिवार में ही जन्म लेता है और परिवार में ही उसकी मृत्यु हो जाती है। इसलिए परिवार व्यक्ति पर रचनात्मक प्रभाव डालता है। जिस प्रकार का परिवार होगा उसी प्रकार व्यक्तियों के विचार व दृष्टिकोण निर्मित होंगे। मिट्टी के बर्तन के समान बच्चों के भविष्य का निर्माण परिवार में ही होता है।
- **सीमित आकार** - चूँकि परिवार के अन्तर्गत केवल वे ही व्यक्ति आते हैं जो वास्तविक या काल्पनिक रक्त संबन्ध से होते हैं, इसलिए अन्य संगठनों की अपेक्षा इसका आकार सीमित होता है। किसी भी परिवार में दो-चार सौ सदस्य नहीं होते, क्योंकि जैसे बच्चे बड़े होते गये उनका विवाह होता गया, फलस्वरूप उन्होंने अलग परिवार बसाना प्रारम्भ किया, इस तरह

से परिवार का आकार सीमित होता जाता है। आज संतति निरोध द्वारा पारिवारिक आकार को और सीमित बनाने का प्रयत्न किया जा रहा है।

- **सामाजिक संरचना में केन्द्रीय स्थिति** - परिवार सामाजिक संरचना का केन्द्र बिन्दु है। जिसका आधार पर समाज की अन्य समस्त इकाइयों व सामाजिक संबंधों का निर्माण होता है। परिवार के बिना समाज की कल्पना नहीं की जा सकती। समाज का छोटा रूप परिवार और परिवार का विस्तृत रूप समाज है।
- **सदस्यों का उत्तरदायित्व** - परिवार का आकार सीमित है लेकिन सदस्यों का उत्तरदायित्व असीमित होता है। जबकि अन्य संगठन कृत्रिम है इसलिये उनके सदस्यों की जिम्मेदारी सीमित है। प्राथमिक समूह होने के नाते परिवार में इसके सदस्यों की जिम्मेदारी और कार्य बढ़ जाते हैं। परिवार में व्यक्ति को हर कार्य अपना समझकर करना पड़ता है।
- **सामाजिक नियंत्रण** - परिवार सामाजिक नियंत्रण की एक उचित विधि है। परिवार प्राथमिक समूह है, इस कारण परिवार व्यक्ति के व्यवहारों पर प्रत्यक्ष नियंत्रण रखता है। परिवार सामाजिक नियंत्रण की अनौपचारिक साधन हैं जिसके द्वारा व्यक्ति वास्तविक रूप से नियंत्रित रहते हैं।
- **परिवार की अस्थायी एवं स्थायी प्रकृति** - परिवार की प्रकृति अस्थायी एवं स्थायी दोनों है। परिवार स्त्री-पुरुष का एक संगठन है। अगर परिवार को हम एक समिति के रूप में लेते हैं तो इसकी प्रकृति अस्थायी है, क्योंकि जैसे ही परिवार का कोई सदस्य अलग हुआ या उसकी मृत्यु हो गयी तो समिति नष्ट हो गयी। लेकिन इसके बावजूद भी परिवार स्थायी है क्योंकि परिवार एक संस्था है जो कृत्रिम नहीं बल्कि वास्तविक है, जिनका आधार मनोवैज्ञानिक प्रवृत्तियां हैं जो कभी नष्ट नहीं होती, इसलिए परिवार भी कभी नष्ट न होने वाली संस्था है।

9.4 परिवार के प्रकार

मानव समाज में कैसे विभिन्न प्रकार के परिवार पाये जाते हैं लेकिन सुविधा की दृष्टि से परिवार को छः आधारों सत्ता, वंश, उत्तराधिकार, निवास स्थान, विवाह तथा सदस्य संख्या या आकार पर विभाजित किया जाता है-

सत्ता या वंश उत्तराधिकार या निवास स्थान के आधार पर परिवार के दो भेद हैं-

(क) **पितृसत्तात्मक (Patriachal)** या **पितृवंशीय (Patrilineal)** या **पितृनामी (Patrimonai)** या **पितृस्थानीय (Patrilocal)** - परिवार भारत वर्ष में सामान्यतः इस प्रकार के परिवार प्रायः सभी सभ्य समाजों में पाये जाते हैं। कुछ जनजातीय समाजों में भी उदाहरण के लिये उड़ीसा की खरिया तथा मध्य प्रदेश की भील जनजाति में पितृसत्तात्मक परिवार जाते हैं।

(ख) **मातृसत्तात्मक (Matriarchal)** या **मातृवंशीय (Matrilineal)** या **मातृनामी (Matrimonial)** या **मातृस्थानीय (Matrilocal)** - परिवार अधिकतर इस प्रकार के परिवार ब्रह्मपुत्रा के दक्षिणोत्तर की खासी, गारो जनजाति, केरल क नायर तथा दक्षिण भारत की इरूला, कादूर, पुलायन इत्यादि जनजातियों में पाये जाते हैं।

सदस्यों की संख्या के आधार पर परिवार को दो भागों में विभाजित किया जाता है-

(क) **मूल या केन्द्रीय परिवार** - इस प्रकार के परिवार में स्त्री-पुरुष व उनके अविवाहित बच्चे सम्मिलित होते हैं। इसमें अन्य रिश्तेदारों का अभाव होता है, इसलिए इनका आकार छोटा होता है। इन्हें व्यक्तिगत परिवार कहते हैं।

(ख) **संयुक्त परिवार** - भारत में परिवार से तात्पर्य संयुक्त परिवार से है। संयुक्त परिवार से तात्पर्य ऐसे परिवार से है जिसमें कई पीढ़ी के लोग एक साथ एक छत के अन्दर रहते हैं तथा उनकी सामान्य संपत्ति, सामान्य संस्कृति; एवं सामान्य निवास होता है। संयुक्त परिवार को प्रायः तीन भागों में बाँटा जाता है-

(क) **मिताक्षरा संयुक्त परिवार**:- बंगाल व असम को छोड़कर सम्पूर्ण भारत में पाये जाते हैं। इसमें पुत्र के पिता की संपत्ति पर जन्म से ही अधिकार हो जाता है। इसके प्रणेता विज्ञानेश्वर है।

(ख) **दायभाग संयुक्त परिवार**:- बंगाल व असम में पाये जाते हैं। इसमें पिता की मृत्यु या उसके देने के बाद ही पुत्र का संपत्ति पर अधिकार होता है। इसके प्रणेता जीमूतवाहन है।

(ग) **विस्तृत परिवार**- यह संयुक्त परिवार का ही एक भेद है, जिसमें मूल परिवार के अलावा पति-पत्नी के रिश्तेदार भी सम्मिलित रहते हैं। आज की परिस्थिति कुछ भिन्न हैं, व्यक्ति अलग-अलग दूर स्थानों में नौकरी करते हुये भी अपने परिवार; संयुक्त परिवार के धार्मिक क्रिया-कलापों में हिस्सा बंटाते हैं। इस प्रकार से उनका अपने परिवार के प्रत्येक प्रकार का भावनात्मक लगाव बना रहता है। जिसके कारण भी हम इन्हें परिवार कहते हैं।

विवाह के आधार पर परिवार के मुख्यतः दो प्रकार हैं-

(क) **एक विवाही परिवार** - इसमें एक पुरुष का एक स्त्री से विवाह होता है आधुनिक सभ्य समाजों में एक विवाही परिवार ही मुख्यतः पाये जाते हैं। हिन्दू विवाह अधिनियम, 1955 भी एक पति व एक पत्नीव्रत की अनुमति देता है।

(ख) बहुपति विवाही परिवार - इस प्रकार क परिवार में एक पुरुष कई औरतों से विवाह करता है या एक औरत कई पुरुषों से यौन संबन्ध रख सकती है। प्रायः इस प्रकार के परिवार आदिम समाजों में पाये जाते हैं। इसक दो स्वरूप हैं-

(1) बहुपति विवाही परिवार - इस प्रकार के परिवार में एक स्त्री के अनेक पति होते हैं। इसके दो भेद हैं-

(क) भ्रातृक बहुपतिविवाही परिवार - इसमें सभी पति आपस में भाई होते हैं। नीलगिरि की टोडा व जौनसार की खस तथा मालाबार तट की नायर जनजाति में पाया जाता है।

(ख) अभ्रातृक बहुपति विवाही परिवार - इसमें कोई आवश्यक नहीं कि सभी पति आपस में भाई ही हों। टोडा व नायन में इस प्रकार का परिवार देखने को मिलता है।

(2) बहुपत्नी विवाही परिवार - इसमें एक पुरुष की अनेक पत्नियाँ रहती हैं नागा, गोंड, बैगा इत्यादि जनजातियों में इस प्रकार के परिवार पाये जाते हैं।

लिण्टन ने संबन्ध के आधार पर परिवार के दो भेद किये हैं-

(क) विवाह संबंधी परिवार - जिनमें पति पत्नी के बीच क संबन्ध पाये जाते हैं। इनकी प्रकृति अस्थायी होती है।

(ख) रक्त संबंधी परिवार - इस प्रकार के परिवारों में रक्त संबंधी व्यक्ति रहते हैं तथा विवाह व धन की अपेक्षा रक्त की पर ज्यादा जोर दिया है। भारत में संयुक्त परिवार इसी श्रेणी में है।

डब्ल्यू.एल. वार्नर ने परिवार को दो भागों में विभाजित किया है-

(क) **जन्ममूलक परिवार** - यह वह परिवार है जिसमें व्यक्ति पैदा होता है। बच्चों के लिये उसके माता-पिता का परिवार प्रभव (जन्ममूलक) परिवार कहा जाएगा।

(ख) **प्रजननमूलक परिवार** - जिस परिवार का युवक-युवतियाँ विवाह कर स्थापित करते हैं, उसे प्रजननमूलक परिवार कहा जाता है।

जिंमरमैन ने - परिवार के तीन प्रकार बताते हैं-

(क) **न्यासिता परिवार** - जब किसी परिवार के अंतर्गत व्यक्तिगत स्वार्थ की तुलना में समस्त परिवार का स्वार्थ सर्वोपरि हो जाता है तो ऐसे परिवार को न्यासिता का परिवार कहा जाता है। भारतीय संयुक्त परिवार एवं विस्तृत परिवार न्यासिता परिवार के बहुत ही उपयुक्त उदाहरण हैं।

(ख) **अतिलघु परिवार** - जब परिवार में सदस्यों का अपना स्वार्थ सर्वोपरि हो जाता है तो उसे अतिलघु परिवार कहा जाता है। इसे व्यक्तिवादी परिवार भी कहा जाता है।

(ग) **घरेलू परिवार** - यह उपरोक्त दोनों परिवार के बीच की स्थिति है। यहाँ व्यक्ति के स्वार्थ एवं परिवार के स्वार्थ में एक समझौता की स्थिति होती है।

बर्गेस एवं लॉक ने दो प्रकार के परिवार की चर्चा की-

(ii) **संस्थागत परिवार** - ऐसा परिवार जिसमें सदस्यों का व्यवहार लोकाचारों तथा जनरीतियों द्वारा नियंत्रित किया जाता है तो इसे संस्थात्मक परिवार कहते हैं।

(ii) **साहचर्य परिवार** - दाम्पत्य स्नेह एवं एकात्मकता पर आधारित परिवार को साहचर्य परिवार कहते हैं। इस प्रकार के परिवारों की मुख्य विशेषता विवाहित युग्म का साहचर्यात्मक जीवन बिताने

की मनोकामना है। विवाहित युग्म स्थायी वैवाहिक बंधनों की अपेक्षा परिवर्तनशील मैत्रिवत् संबंधों में रहना अधिक पसंद करते हैं।

बोध-2

- i) वह परिवार जिसमें में स्त्री-पुरुष व उनके अविवाहित बच्चे सम्मिलित होते हैं कहलाते.....
- ii) ऐसा परिवार जिसमें सदस्यों का व्यवहार लोकाचारों तथा जनरीतियों द्वारा नियंत्रित किया जाता है, क्या कहलाता है।
.....
.....

9.5 परिवार के प्रकार्य

जॉर्ज पीटर मुर्डाक, जिन्होंने 250 समाजों का अध्ययन किया तथा 'परिवार को एक सार्वभौमिक संस्था कहा' मुर्डाक परिवार के चार कार्यों को महत्वपूर्ण मानते हैं-

- (i) आर्थिक कार्य
 - (ii) प्रजनन संबंधी कार्य
 - (iii) आर्थिक कार्य
 - (iv) शैक्षिक कार्य
- ऑगबर्न तथा निमकॉफ ने परिवार के निम्नलिखित कार्यों का उल्लेख किया है-

-
- (i) स्नेह एवं प्रेम संबंधी कार्य
 - (ii) आर्थिक कार्य
 - (iii) मनोरंजन संबंधी कार्य
 - (iv) पालन-पोषण अथवा रक्षा संबंधी कार्य
 - (v) धार्मिक कार्य
 - (vi) शिक्षा संबंधी कार्य
- रीक परिवार के कार्यों को चार भागों में बाँटते हैं-
 - (i) वंश वृद्धि
 - (ii) समाजीकरण
 - (iii) यौन आवश्यकताओं की पूर्ति और नियंत्रण
 - (iv) आर्थिक कार्य

सामान्य रूप से हम परिवार के कार्यों की विवेचना निम्नलिखित रूप में कर सकते हैं-

- (1) परिवार के जैविकीय प्रकार्य
 - (क) यौन संबंधी आवश्यकताओं की पूर्ति
 - (ख) संतानोपत्ति का कार्य प्रजाति का विकास
 - (ग) प्रजाति का विकास
- (2) परिवार के शारीरिक सुरक्षा के कार्य-

(क) भोजन, निवास एवं वस्त्र की व्यवस्था

(ख) बच्चों का पालन-पोषण

(ग) सदस्यों की शारीरिक रक्षा

(3) परिवार के मनोवैज्ञानिक प्रकार्य-

(क) श्रम विभाजन

(ख) आय का प्रबंध

(ग) संपत्ति का प्रबंध

(घ) उत्तराधिकार

(4) परिवार के सामाजिक प्रकार्य-

(क) परिवार सदस्यों की एक निश्चित स्थिति प्रदान करता है

(ख) परिवार सदस्यों का समाजीकरण करता है

(ग) परिवार मानव सभ्यता को एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी तक पहुँचाता है

(घ) परिवार सदस्यों पर आवश्यक नियंत्रण रखता है

(घ) परिवार सदस्यों को भविष्य के निर्णय लेने में सहायता देता है

(5) परिवार के शैक्षिक कार्य

(6) परिवार के सांस्कृतिक कार्य

(7) परिवार के राजनीतिक कार्य

-
- (8) परिवार के धार्मिक कार्य
- (9) परिवार क मनोरंजनात्मक कार्य
-

9.6 परिवार के महत्वपूर्ण स्वरूप

उभयवाही परिवार जिस परिवार में संतान का माता-पिता दोनों के संबंधियों के साथ समान रूप से संबन्ध रहता है, उभयवाही परिवार कहलाता है। जैसे एक व्यक्ति अपने दादा-दादी और नाना-नानी से समान रूप से सम्बंधित होता है।

सम्मिश्रण परिवार- दो या अधिक मूल परिवारों से निर्मित एक ऐसा परिवार जिसका निवास एक ही स्थान पर एकल रूप में होता है, सम्मिश्रण परिवार कहलाता है। इसमें विस्तृत परिवार अथवा बहुपत्निक एवं बहुपतिक परिवार सम्मिलित होते हैं। यह यौगिक परिवार से मिलता से मिलता-जुलता है।

यौगिक परिवार - बहुविवाह के आधार पर बने परिवार को यौगिक परिवार कहा गया है। इसमें दो या दो से अधिक केन्द्रीय, मूल परिवार किसी एक सामान्य निवास स्थान, घर में साथ-साथ रहते हैं। यह परिवार साझा पति या पत्नी के द्वारा जुड़ा होता है। बहु बहुपत्नी विवाह की प्रणाली में जोड़ने वाला यह व्यक्ति पति होता है।

दाम्पतिक या दाम्पत्यमूलक परिवार - ऐसा परिवार जिसमें रक्त संबंधों की अपेक्षा पति-पत्नी के संबंधों की अधिक महत्व एवं प्राथमिकता दी जाती है, दाम्पत्यमूलक परिवार के नाम से जाना जाता है। विवाह के आधार पर निर्मित इस प्रकार के परिवार की रचना पति-पत्नी तथा उनकी अविवाहित आश्रित संतानों द्वारा होती है। यदि इनके साथ अन्य संबंधी; दंपति के माता-पिता या भाई-बहन आदि भी रहते हैं तो उनकी स्थिति महत्वहीन होती है। ऐसे परिवार में पति-पत्नी एवं बच्चों के

संबन्ध प्रकार्यात्मक रूप में प्राथमिक होते हैं तथा अन्य व्यक्ति उनके मात्रा सहयोगी या गौण होते हैं। इसे लघु या जैविक परिवार भी कहते हैं।

द्विस्थानीय परिवार - ऐसे परिवार जिसमें विवाहोपरांत पति-पत्नी साथ-साथ नहीं रहते हैं, अपितु वे अलग-अलग उन्हीं परिवारों में रहते हैं जिनमें उनका जन्म हुआ है। लक्षद्वीप व केरल के कुछ भागों में यह परिवार देखने को मिलता है। ऐसे परिवारों में पति केवल रात बिताने के लिये अपनी पत्नी के घर जाता है, किन्तु दिन में जीविकोपार्जन करने के लिये पुनः अपने जन्म के परिवार में लौट आता है।

उभयस्थानिक विस्तारित परिवार - जब विवाह के पश्चात् पुत्रा अथवा पुत्री अपने मूल परिवार में ही रहते हैं, तब इस प्रकार क उभयस्थानिक परिवार का जन्म होता है। इस प्रकार के बंधन सूत्र पिता तथा पुत्र अथवा माँ और पुत्री के बीच होता है।

9.7 सारांश

उपरोक्त विवरण के आधार पर स्पष्ट है की परिवार एक सार्वभौमिक संस्था है जो समाज के इतिहास में हमेशा से रही है बदलते समय के साथ-साथ परिवार के स्वरूप व प्रकृति में भी परिवर्तन आया है जिसके कारण परिवार की संरचना और कार्यों में भी व्यापक बदलाव आया है फिर भी परिवार एक संस्था के रूप में यथावत है और निश्चित रूप से रहेगी

9.8 परिभाषिक शब्दावली

संयुक्त परिवार- ऐसे परिवार से है जिसमें कई पीढ़ी के लोग एक साथ एक छत के अन्दर रहते हैं।

द्विस्थानीय परिवार- ऐसे परिवार जिसमें विवाहोपरांत पति-पत्नी साथ-साथ नहीं रहते हैं।

मूल या केन्द्रीय परिवार- इस प्रकार के परिवार में स्त्री-पुरुष व उनके अविवाहित बच्चे सम्मिलित होते हैं।

9.9 अभ्यास-प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1

i) अल्मर

बोध प्रश्न 2

i) मूल्य या केंद्र परिवार

ii) संस्थागत परिवार

9.10 संदर्भ ग्रंथ सूची

Bogardus, E.S., Introduction to Sociology: Introduction to Sociology, Los Angeles: University of Southern California Press, 1917.

Bottomore, T.B., Sociology: A Guide to Problem & Literature, London: Allen & Unwin, 1969.

Cooley, C.H., Social Organization, Glencoe: The Free Press, 1962.

अग्रवाल, जी .के ., एस बी पी डी पब्लिकेशन्स, आगरा, 2009

9.11 सहायक उपयोगी पाठ्य सामग्री

Davis, Kingsley, Human Society, New York: MacMillan Company, 1949

Fairchild, H.P., Dictionary of Sociology, London: Vision, 1958

अग्रवाल, जी .के ., एस बी पी डी पब्लिकेशन्स, आगरा, 2009

9.12 निबंधात्मक प्रश्न

1. परिवार को परिभाषित कीजिए। परिवार की मूलभूत विशेषताएं क्या हैं।

इकाई-10

नातेदारी: अर्थ, प्रकार एवं श्रेणियाँ

Kinship: Meaning, Types and Categories

इकाई की रूपरेखा

- 10.0 प्रस्तावना
- 10.1 उद्देश्य
- 10.2 नातेदारी का अर्थ
- 10.3 नातेदारी के प्रकार
 - 10.3.1 रक्त सम्बन्धी नातेदारी
 - 10.3.2 विवाह सम्बन्धी नातेदारी
- 10.4 नातेदारी की श्रेणियाँ
 - 10.4.1 प्राथमिक सम्बन्धी
 - 10.4.2 द्वितीयक सम्बन्धी
 - 10.4.3 तृतीयक सम्बन्धी
- 10.5 नातेदारी की रीतियाँ
 - 10.5.1 परिहार
 - 10.5.2 परिहास
 - 10.5.3 मातृलेय
 - 10.5.4 माध्यमिक सम्बोधन
 - 10.5.5 पितृष्वश्रेय

10.5.6 सह प्रसविता या सहकष्टी

10.6 सारांश

10.7 पारिभाषिक शब्दावली

10.8 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

10.9 सन्दर्भ ग्रंथ

10.10 सहायक उपयोगी पाठ्य सामग्री

10.11 निबंधात्मक प्रश्न

10.0 प्रस्तावना

परिवार तथा विवाह के साथ ही नातेदारी भी एक प्रमुख सामाजिक संस्था है मानव समाज में अकेला नहीं होता। उसका सम्बन्ध एकाधिक व्यक्तियों से होता है। परन्तु इनमें से सबसे महत्वपूर्ण सम्बन्ध उन व्यक्तियों के साथ होता है, जो कि विवाह बन्धन और रक्त सम्बन्ध के आधार पर सम्बन्धित है। वास्तव में व्यक्ति अपनी सामाजिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए बहुत से व्यक्तियों पर निर्भर होता है, इनमें से सबसे महत्वपूर्ण व्यक्ति वो होते हैं, जिनका एक व्यक्ति से विवाह अथवा रक्त संबंध होता है यह सम्बन्ध अन्तः क्रिया के परिणाम है। इस प्रकार यह कहा जा सकता है की संबंधों की वो व्यवस्था जिसके अंतर्गत कुछ सामाजिक नियम एक व्यक्ति को दूसरे व्यक्तियों से विवाह अथवा रक्त के द्वारा जोड़ते हैं उसे नातेदारी व्यवस्था कहते हैं। नातेदारी का प्रत्येक समाज में बहुत महत्व है। संगमन, गर्भावस्था, पितृत्व, समाजीकरण, सहोदरता आदि जीवन के मूलभूत तथ्यों के साथ मानव व्यवहार का अध्ययन ही नातेदारी का अध्ययन है। मनुष्य जन्म के बाद से ही अनेक लोगों से सम्बन्धित हो जाता है। इन सम्बन्धों में विवाह के आधार पर बने सम्बन्ध अधिक स्थायी

और घनिष्ठ होते हैं। जिन विशिष्ट सामाजिक सम्बन्धों द्वारा मनुष्य बंधे होते हैं और जो सम्बन्ध समाज द्वारा स्वीकृत होते हैं इन्हें हम नातेदारी के अन्तर्गत सम्मिलित करते हैं।

10.1 उद्देश्य

इस इकाई का मुख्य उद्देश्य नातेदारी के द्वारा सामाजिक संरचना को स्पष्ट करना, नातेदारी की प्रकार, विशेषताएं व नातेदारी की विभिन्न रीतियों के बारे में पूर्ण जानकारी देना है। इस इकाई के अध्ययन के बाद आप नातेदारी व्यवस्था को विस्तार पूर्वक समझ सकेंगे।

10.2 नातेदारी का अर्थ एवं परिभाषा

नातेदारी रक्त और विवाह से सम्बंधित व्यक्तियों के बीच सामाजिक संबंधों और संबोधनों की वह व्यवस्था है जो इन संबंधों से जुड़े हुए व्यक्तियों को उनके सामाजिक अधिकारों और कर्तव्यों का बोध कराती है।

नातेदारी का अर्थ निम्नलिखित प्रमुख समाजशास्त्रियों ने अपनी परिभाषाओं के द्वारा स्पष्ट किया।

रेडक्लिफ ब्राउन के अनुसार ‘नातेदारी सामाजिक उद्देश्यों के लिए स्वीकृत वंश संबंध है तथा यह सामाजिक संबंधों के प्रथागत स्वरूप का आधार है।’

हॉबल के अनुसार, “नातेदारी व्यवस्था प्रस्थिति और भूमिकाओं की जटिल प्रथाएँ हैं जो सम्बन्धियों के व्यवहारों को संचालित करती है।

लेवी स्ट्रास के अनुसार, “नातेदारी व्यवस्था वंश अथवा रक्त सम्बन्धी कर्म विषयक सूत्रों से निर्मित नहीं होती जो कि व्यक्ति को मिलती है, यह मावन चेतना में विद्यमान रहती है, यह विचारों की निरंकुष प्रणाली है, वास्तविक स्थिति का स्वतः विकास नहीं है।” आपका मानना है कि यह रक्त

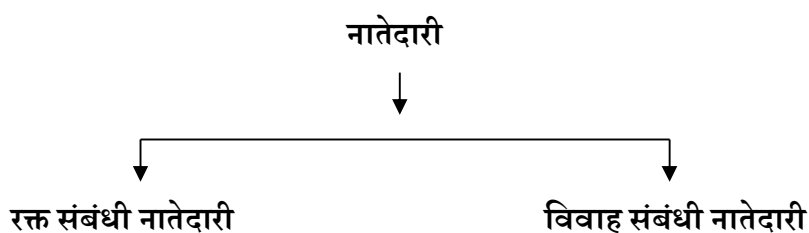
सम्बन्ध पर आधारित नहीं है। इसमें समाज की मान्यता अत्यावश्यक है। एक पुरुष और स्त्री के बिना विवाह किये सन्तानोत्पत्ति करते हैं, परन्तु समाज की मान्यता प्राप्त नहीं होने के कारण स्त्री-पुरुष, पति-पत्नी नहीं कहलायेंगे और उनसे सन्तान को भी अवैध सन्तान कहा जाएगा।

मजूमदार एवं मदान ने लिखा है कि, “सभी समाजों में मनुष्य अनेक प्रकार के बन्धनों द्वारा आपस में समूहों में बंधे हुए होते हैं। इन बन्धनों में सबसे अधिक सार्वभौमिक तथा आधारभूत बंधन वह है जो सन्तानोत्पत्ति पर आधारित होता है, सन्तानोत्पत्ति मावन की स्वाभाविक इच्छा है और इससे निर्मित हुए बंधन नातेदारी कहलाते हैं।”

उपर्युक्त परिभाषाओं से स्पष्ट होता है कि नातेदारी व्यवस्था समाज द्वारा मान्यता प्राप्त समाजिक व्यवस्था है जो मानव चेतना में विद्यमान होती है। यह विवाह मान्य संबंध तथा वंशवलियों के द्वारा निर्धारित होती है। नातेदारी व्यवस्था को समझाने के लिए इसकी विशेषताओं का अध्ययन करना आवश्यक है, जो निम्न प्रकार से है-

10.3 नातेदारी के प्रकार

नातेदारी का संबंध मुख्यतः उन व्यक्तियों से होता है जो एक दूसरे से जो एक दूसरे से रक्त अथवा विवाह के द्वारा जुड़े होते हैं।



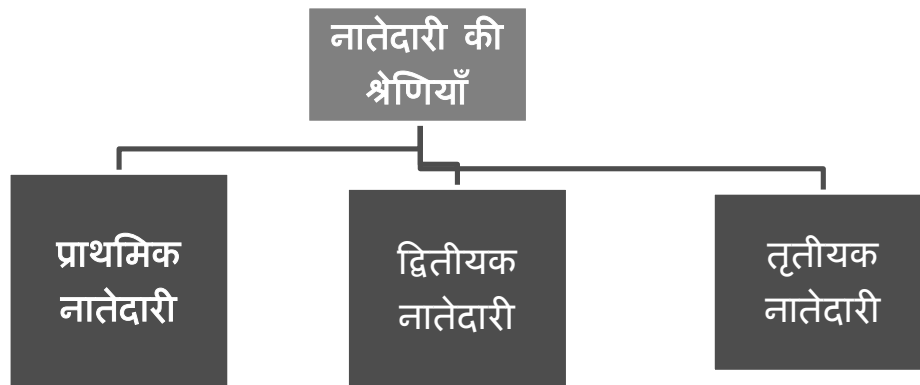
10.3.1 रक्त संबंधी नातेदारी

इसके अंतर्गत वे सभी आते हैं जो समान रक्त के कारण एक दूसरे से सम्बंधित होते हैं अथवा जिनमें समान रक्त होने की संभावना की जाती है, जैसे माता-पिता एवं संतानों के बीच का संबंध। एक व्यक्ति के माता-पिता, भई-बहिन, दादा-दादी, बुआ, चाचा आदि रक्त संबंधी है। रक्त सम्बन्धियों के बीच वास्तविक रक्त सम्बन्ध होना आवश्यक नहीं है। इनके बीच काल्पनिक संबंध भी हो सकता है। इसके अन्तर्गत किसी को गोद लेने अथवा अपना लेने से यह काल्पनिक नातेदार बन जाते हैं। इन संबंधों पर समाज की स्वीकृति अनिवार्य होती है। उदाहरण के लिए पिता-पुत्र का संबंध रक्त पर आधारित होता है।

10.3.2 विवाह सम्बन्धी नातेदारी

यह पति-पत्नी के यौन सम्बन्धों पर आधारित हैं अथवा यह नातेदारी संबंध उन व्यक्तियों के बीच स्थापित होते हैं जो विवाह के द्वारा एक दूसरे से सम्बंधित होते हैं और उनका वैवाहिक सम्बन्ध सामाजिक या कानूनी आधार पर मान्य होना चाहिए। इसे विवाह सम्बन्धी नातेदारी कहते हैं। विवाह पश्चात् एक पुरुष केवल एक पति ही नहीं बनता, बल्कि बहनोई, दामाद, जीजा, फूफा, मौसा, साडू आदि भी बन जाते हैं। उसी प्रकार एक स्त्री भी विवाह के पश्चात् पत्नी बनने के अलावा पुत्र-वधु, भाभी, देवरानी, जेठानी, चाची, मासी, सलेज आदि भी बन जाती है। विवाह के द्वारा दो व्यक्ति तथा दो परिवार और उनके सदस्य परस्पर संबंधों में बंध जाते हैं जैसे पति-पत्नी, दामाद-ससुर, जीजा-साला, मामा-भान्जा, ससुर-पुत्रवधु, देवर-भाभी, चाची-भतीजा, ननद-भाभी, देवरानी-जेठानी आदि। इस प्रकार से विवाह द्वारा सम्बद्ध समस्त सम्बन्धियों या नातेदारी को विवाह सम्बन्धी कहते हैं।

10.4 नातेदारी की श्रेणियाँ



10.4.1 प्राथमिक नातेदारी –जिन व्यक्तियों के बीच रक्त अथवा विवाह का प्रत्यक्ष संबंध होता है उन्हें एक दूसरे का प्राथमिक नातेदार कहा जाता है। मुरडॉक ने बताया एक परिवार में आठ प्रकार के प्राथमिक सम्बन्धी हो सकते हैं, जिनमें सात रक्त सम्बन्धी तथा एक विवाह सम्बन्धी होता है। पिता-पुत्र, पति-पुत्री, माता-पिता, माता-पुत्री, भाई-बहन, बहन-बहन, भाई-भाई ये सभी रक्त सम्बन्धी है जबकि पति-पत्नी विवाह सम्बन्धी है।

10.4.2 द्वैतीयक सम्बन्ध – जो व्यक्ति हमारे प्राथमिक नातेदार के प्राथमिक संबंधी होते हैं वो हमारे द्वैतीयक नातेदार हो जाते हैं। एक व्यक्ति का दादा उसका द्वितीयक सम्बन्धी हैं क्योंकि दादा से पोते का सम्बन्ध पिता के द्वारा है पिता तथा पिता के पिता (दादा) आपस में प्राथमिक सम्बन्धी है। रक्त सम्बन्धी द्वितीयक रिश्तेदार के और उदाहरण है- चाचा, भतीजा, मामा, नाना, नानी पोता, पोती, बुआ आदि। विवाह द्वारा भी द्वितीयक सम्बन्ध होते है, जैसे सास, ससुर, साला, बहनोई, साली, जीजा, देवर, भाभी आदि।

10.4.3 तृतीयक सम्बन्ध -जो व्यक्ति हमारे द्वितीयक नातेदार के प्राथमिक संबंधी होते हैं वो हमारे तृतीयक नातेदार हो जाते हैं जैसे पिता तथा की माता की सभी बहिनें हमारी द्वितीयक नातेदार होंगी जबकि उन बहनों के सभी बच्चे से हमारे संबंध तृतीयक नातेदारी के अंतर्गत आयेंगे।

बोध प्रश्न-1

(i) जो समान रक्त के कारण एक दूसरे से सम्बंधित होते हैं, वह नातेदारी क्या कहलाती है।

.....

(ii) भतीजा, मामा, नाना, नानी पोता, पोती, बुआ द्वैतीयक नातेदारी के उदाहरण है-सत्य/असत्य

.....

10.5 नातेदारी की रीतियाँ

जो व्यक्ति हमसे रक्त या विवाह के द्वारा सम्बंधित होते हैं उन सभी से हमारे व्यवहार एक जैसे नहीं होते जैसे नातेदारी-व्यवस्थाओं के अन्तर्गत अनेक प्रकार के व्यवहार प्रतिमानों का भी समावेश होता है हमारे किसी एक व्यक्ति से एक विशेष सम्बन्ध है, परन्तु बात यहीं पर नहीं समाप्त होती है। इस रिश्ते या सम्बन्ध से सम्बन्धित एक विशेष प्रकार का भी हुआ करता है। उदाहरणतः अब पति पत्नी है, इस सम्बन्ध के आधार पर उनका व्यवहार का एक विशिष्ट रूप या प्रतिमान होगा। यह संभव नहीं है कि उनका व्यवहार माता-पुत्र के व्यवहार जैसा कुछ रिश्तों का आधार श्रण और सम्मान का होता है, तो कुछ का प्रेम और कुछ का प्रीति का। माता-पिता के साथ सम्बन्ध का आधार प्रेम है, जबकि छोटे भाई-बहनों के साथ सम्बन्ध का आधार प्रीति में। जीजा-साली या साले बहनोई का सम्बन्ध में मधुर सम्बन्ध है। अतः स्पष्ट है कि नातेदारी व्यवस्था में दो सम्बन्धियों के

बीच का सम्बन्ध किस प्रकार का होगा, इसके विषय में कुछ नियम या रीतियाँ होती हैं, इसी को नातेदारी की रीतियाँ कहते हैं। हम यहाँ कुछ बहुप्रचलित नातेदारी की रीतियों का उल्लेख करेंगे।

10.5.1 परिहार या विमुखता (Avoidance)

शाब्दिक रूप से परिहार का अर्थ है 'दूर रहना' अथवा 'बचना' इसका अर्थ है कि कुछ सम्बन्धी आपस में विमुखता बरतें, एक-दूसरे से कुछ दूरी बनाये रखने का प्रयत्न करें। परिहार संबंधी रीतियाँ कुछ विशेष नातेदारों को इस बात का निर्देश देती है की वे एक दूसरे से कुछ दूर रहे और जहाँ तक हो एक दूसरे का नाम ना लें। कभी-कभी तो वे सम्बन्धी एक दूसरे को देख भी नहीं रख सकते, बातचीत नहीं कर सकते, आमने-सामने नहीं आ सकते।

पुत्रवधु और सास सासुर के बीच किसी न किसी प्रकार का परिहार लगभग सभी समाजों में पाया जाता है। भारतीय समाज में बहु से यह आशा की जाती है कि वह अपने पति के पिता (सासुर) तथा बड़े भाईयों अथवा वयोवृद्ध सम्बन्धी के सम्मुख बिना परदे के न जाए और सासुर तथा ज्येष्ठ भाईयों से भी यह आशा की जाती है कि जहाँ तक हो सके वे बहु से बात करने के अवसर टालते रहें। कई समाजों में सास अपने दामाद से घूट निकालती है और उससे बात तक नहीं सकती है। कई समाज में भाई बहन परस्पर परिहार का पालन करते हैं। जिन सम्बन्धियों में परिहार अथवा विमुखता के सम्बन्ध पाए जाते हैं, उनमें से प्रमुख इस प्रकार है- सास-दामाद परिहार, सासुर-दामाद परिहार, सासुर-पुत्रवधु परिहार, सासुर-दामाद परिहार, ज्येष्ठ एवं छोटे भाई की पत्नी की बीच परिहार, स्त्री के पति का पत्नी की बड़ी बहन से परिहार। भारत की भील जनजाति में बहु और सासुर के इतनी अधिक दूरी रखी जाती है की वो बिना किसी मध्यस्थ के वे आपस में कोई बातचीत नहीं कर सकते।

टॉयलर का मत है कि परिवार का प्रारम्भिक स्वरूप मातृसत्तात्मक था और ऐसे परिवार में दामाद बाहर का व्यक्ति होने से एक अपरिचित व्यक्ति था। अतः जब वह अपनी पत्नी के साथ प्रतिबन्धित व्यवहारों का पालन करना पड़ता था। पितृसत्तात्मक परिवार में ससुर-वधु परिहार भी इसी तरह पनपे। लोवी ने परिहार को सामाजिक सांस्कृतिक वातावरण एवं मूल्यों से आती है और उसके प्रभाव से घर के सदस्यों को बचाने के लिए परिहार संबंध पनपे हैं। जैसे फेजर का मानना है कि परिहार संबंध यौन संबंध को नियंत्रित करने तथा निकट साहचर्य को रोकने के लिए पनपे हैं। टर्नी हाई परिवार की शान्ति के लिए परिहार को आवश्यक मानते हैं।

10.5.2 परिहास या हँसी मजाक के सम्बन्ध

ब्राउन के अनुसार 'परिहास संबंध दो व्यक्तियों के बीच पाए जाने वाला वह संबंध है, जिसमें एक पक्ष को प्रथा द्वारा यह छुट दी जाती है और कभी कभी दोनों पक्षों से ये आशा की जाती है, की वह एक दूसरे से हसी मजाक करे, उन्हें तंग करे लेकिन दूसरा पक्ष उसका बुरा ना माने' नातेदारी की रीतियों में परिहास सम्बन्ध परिहार का बिल्कुल विपरीत रूप है। परिहास दो रिश्तेदारों में परस्पर निकटता लाता है। निश्चित अर्थ में यह दो व्यक्तियों को मधुर सम्पर्क सूत्र में बाँधता है। और उन दोनों को एक-दूसरे के साथ हँसी मजाक करने का अधिकार देता है।

देवर भाभी, जीजा साली, ननद भाभी, मामा भान्जा, चाचा-भतीजा आदि के बीच विभिन्न समूहों में पाए जाने वाले मधुर सम्बन्ध परिहास सम्बन्ध के उदाहरण हैं। ये एक-दूसरे की खिल्ली उड़ाते हैं, सबके सामने एक-दूसरे को नीचा दिखाने का प्रयत्न करते हैं। हँसी-मजाक त्यौहारों के दिनों में बहुत बढ़ जाता है। हिन्दुओं में होली का त्यौहार इस मामले में उल्लेखनीय है।

रैडक्लिफ ब्राउन परिहास सम्बन्धी को एक ऐसी मित्रता का प्रतीक मानते हैं जिसे पशु-तापूर्ण व्यवहार के रूप में व्यक्त किया जाता है। आपसी गाली गलौज, एक दूसरे के साथ मारपीट आदि दिखावटी शत्रुता है। मामा भान्जे में परिहास सम्बन्ध को विवाह से सम्बन्धित कुलों के बीच सम्भाव्य वैमनस्य को मिटाने का एक साधन माना गया है। चेपल तथा कून के विचार हैं कि परिहास एक प्रेरक कारक है जो सम्बन्धियों में परस्पर सम्बन्ध बढ़ता है।

रिवर्स का विश्वास है कि परिहास सम्बन्ध की उत्पत्ति फुफेरों ममेरों में विवाह सम्बन्ध, जो प्रारम्भिक युग में सामान्य था, के कारण हुई। वेस्टरमार्क इस सिणन्त से सहमत नहीं हैं। आपके अनुसार किसी भी संस्था से किसी की उत्पत्ति की कल्पना करना बहुत सरल है परन्तु उसे प्रमाणित करना कठिन है। वेस्टरमार्क का मत है कि जिन व्यक्तियों में परिहास सम्बन्ध होते हैं उनमें पारस्परिक समानता रही है और उनमें इतनी घनिष्ठता रही है कि वे कभी एक-दूसरे से विवाह भी कर लेते हैं। जैसे जीजा साली परिहास, साली विवाह का एवं देवर भाभी परिहास देवर विवाह का सूचक हैं।

10.5.3 मातुलेय

जिन समाजों में पिता की तुलना में माता के अधिकारों और शक्ति की प्रधानता होती है, उनमें मातुलय यह सम्बन्ध प्रायः मातृ-सात्मक समाजों में पाया जाते हैं। अनेक समाजों में पिता के स्थान पर मामा की प्रधानता होती है। हॉबल ने इसे परिभाषित करते हुए लिखा है, माता के भाई (मामा) और बहन की सन्तानों (भान्जा-भान्जी) के बीच सम्बन्धों की जटिलता मातुलेय कहलाती है। जिन परिवारों में सम्पत्ति पिता के स्थान पर मामा के पास होती है, भान्जे-भान्जी मामा के संरक्षण में रहते हैं। सम्पत्ति मामा से भान्जे को हस्तान्तरित की जाती है और भान्जे के पिता की बजाए मामा के लिए कार्य करते हैं। मातुलेय सम्बन्ध के अनेक उदाहरण देखे जा सकते हैं। जैसे होपी और जूनी जनजाति में लड़के के विवाह योग्य होने पर मामा द्वारा उसका विवाह किया जाता है।

10.5.4 माध्यमिक संबोधन

माध्यमिक संबोधन या अनुनामिता नातेदारी व्यवस्था की एक महत्वपूर्ण रीति है। अनेक समाजों में ऐसे नियम हैं जहाँ सम्बन्धी को उसके नाम से पुकारना मना है। उसे सम्बोधित करने के लिए व्यक्ति किसी और सम्बन्धी का माध्यम बना कर पुकारता है। इसीलिए उसे माध्यमिक सम्बोधन कहते हैं। भारत के ग्रामीण क्षेत्रों में पत्नी अपने पति का नाम नहीं ले सकती है। इस कारण पत्नी अपने पति को सम्बोधन करने के लिए अपने पुत्र या अन्य को माध्यम बना लेती है और उसी के सम्बन्ध नाम से पति को पुकारती है। जैसे अमुक के पिताजी या अमुक की माँ आदि।

टायलर ने सर्वप्रथम मानवशास्त्रीय साहित्य में माध्यमिक सम्बोधन शब्द का प्रयोग किया है। माध्यमिक सम्बोधन का अंग्रेजी शब्द “टेक्रोनमी” ग्रीक भाषा से बना है। टायलर का मानना है कि माध्यमिक सम्बोधन की रीति मातृसात्मक परिवार से सम्बन्धित है। इन परिवारों में सर्वेसर्वा स्त्री होती थी और पति को एक बाहर का व्यक्ति समझा जाता था जिसके कारण परिवार में उसकी कोई विशेष स्थिति नहीं होती थी। इसीलिए उसे प्राथमिक सम्बन्धियों में सम्मिलित न करके द्वितीयक सम्बन्धी के रूप में स्वीकार किया जाता था। पति सन्तानें पैदा करने में हिस्सेदार होता था इसलिए उसे उन बच्चों के माध्यम से पुकारा जाता था जो उसके द्वारा जन्मे हैं।

लोवी टायलर के सिद्धांतों को नहीं मानते हैं। उनका मानना है अगर मातृसात्मक परिवार इसका कारण है तो पितृसात्मक परिवार में इस प्रथा का प्रचलन नहीं होता। हिन्दु समाज तथा भारत की अनेक जनजातियाँ पितृसात्मक हैं और उनमें माध्यमिक सम्बोधन की रीति का प्रचलन पाया जाता है।

10.5.5 पितृष्वश्रेय

यह सम्बन्ध मातुलेय के ठीक विपरित होते हैं। इसमें पिता की बहन बुआ को प्रधानता दी जाती है। इनमें जो स्थान मामा का मातुलेय समाजों में होता है वही स्थान बुआ का पितृष्वश्रेय समाज में होता है। पितृष्वश्रेय सम्बन्धों के उदाहरण अनेक समाजों में देखने को मिलते हैं, डॉ. रिवर्स ने बैक्सिदिप में इस प्रथा का प्रचलन पाया है। वहाँ बुआ ही भतीजे के लिए वधू ढूँढती है, भतीजा माँ से अधिक बुआ का सम्मान करता है, वही बुआ की सम्पत्ति का उत्तराधिकार होता है। भारतीय समाज की टोडा जनजाति में बच्चे का नामकरण बुआ करती हैं। इस प्रथा के बारे में चैपल तथा कून का मानना है कि पितृष्वश्रेय सम्बन्ध उन नातेदारों में पारस्परिक सामाजिक अन्तः क्रिया को बनाये रखना के लिए प्रचलित है जिनमें विवाह के बाद अन्तः क्रिया के समाप्त हो जाने या शिथिल हो जाने की सम्भावना रहती है।

10.5.6 सहकष्टी या सह-प्रसविता

हॉबल के अनुसार, “यह एक रीति है जिसमें पत्नी के जब सन्तान होती है तब पति बिस्तर पर ऐसे लेट जाते हैं मानो उसके अभी बच्चा हुआ है।” इस प्रथा के अन्तर्गत जब पत्नी के सन्तान होने वाली हो तब पुरुष को उन सारे निषेधों का पालन करना पड़ता है, जिनका पालन उसकी पत्नी करती है। पति अपनी पत्नी की तरह से उसी कमरे में उसके साथ रहता है। प्रसव पीड़ा के कारण पत्नी जब चिल्लाती है, तो पति भी चिल्लाता है। भारत में खासी व टोडा जनजाति में यह प्रथा प्रचलित है। एक खासी-पति को पत्नी की तरह नदी पार करने एवं कपड़े धोने की उस समय तक मनाही रहती है जब तक कि सन्तान होने के बाद देवी-देवताओं की पूजा नहीं कर ली जाती।

मैलिनोवस्की ने इसे एक सामाजिक क्रिया माना है जिसका उद्देश्य पति-पत्नी के वैवाहिक सम्बन्धों को घनिष्ठ बनाना है तथा पैतृक प्रेम को प्राप्त करना है। कुछ विद्वान इसकी मनोवैज्ञानिक व्याख्या करते हैं। उसकी मान्यता है कि इससे पति-पत्नी में परस्पर प्रेम का विकास होता है। कुछ जनजाति में इसका कारण माता-पिता पर प्रतिबंध लगाकर उनको जादू-टोने के बुरे प्रभाव से बचाए रखना है ताकि नवजात शिशु कुशलता से जन्म ले सके। डॉ. एस.सी. दुबे का मानना है कि इस प्रथा का प्रचलन सामाजिक पितृत्व निर्धारण का करने के लिए हुआ होगा। बहुपति विवाह तथा मातृसात्मक परिवारों में सन्तान का जैविकीय पिता प्रायः अज्ञात ही होता था और वह व्यक्ति सन्तान का पिता माना जाता है जो सहकृष्टि रीति का पालन करता था।

10.6 सारांश

उपयुक्त विवेचना से यह स्पष्ट होता है की नातेदारी व्यवस्था भारतीय समाज की एक प्रमुख सामाजिक संस्था रही है, जो अपने विभिन्न नियमों व सिद्धांत के जरिये व्यक्ति को दूसरे व्यक्ति से जोड़े रखती है। नातेदारी का प्रत्येक समाज में बहुत महत्व है। संगमन, गर्भावस्था, पितृत्व, समाजीकरण, सहोदरता आदि जीवन के मूलभूत तथ्यों के साथ मानव व्यवहार का अध्ययन ही नातेदारी का अध्ययन है। नातेदारी व्यवस्था समाज द्वारा मान्यता प्राप्त सामाजिक व्यवस्था है जो मानव चेतना में विद्यमान होती है। यह विवाह मान्य संबंध तथा वंशावलियों के द्वारा निर्धारित होती है।

10.7 पारिभाषिक शब्दावली

- | | | |
|----------------|---|-----------------------------------|
| 1. स्वजन | - | विवाह/रक्त संबंधी |
| 2. विमुखता | - | सामाजिक दूरी बनाए रखने वाली प्रथा |
| 3. बर्हिंविवाह | - | अपने समूह के बाहर विवाह |

4. अन्तः विवाह - अपने समूह के अन्दर विवाह।

10.8 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1

(i) रक्त संबंधी नातेदारी

(ii) सत्य

10.9 सन्दर्भ ग्रंथ

अग्रवाल, जी.के., एस.बी.पी.डी, पब्लिकेशन्स, आगरा, 2009

जैन, शोभिता., भारत में परिवार विवाह और नातेदारी, रावत, जयपुर, 1996

शर्मा, के.एल., भारतीय सामाजिक संरचना एवं परिवर्तन, रावत, जयपुर, 2006

10.10 सहायक उपयोगी पाठ्य सामग्री

Bogardus, E.S., Introduction to Sociology: Introduction to Sociology, Los Angeles: University of Southern California Press, 1917.

Bottomore, T.B., Sociology: A Guide to Problem & Literature, London: Allen & Unwin, 1969.

Cooley, C.H., Social Organization, Glencoe: The Free Press, 1962.

11.11 निबंधात्मक प्रश्न

1. नातेदारी को परिभाषित कीजिए। इसके प्रमुख प्रकारों को समझाइए।
2. नातेदारी की रीतियाँ अथवा व्यवहार को समझाइए।

इकाई-11 जाति: अर्थ, विशेषताएँ एवं जातीय गतिशीलता

Caste: Meaning, Characteristics & Caste Mobility

इकाई की रूपरेखा

- 11.0 प्रस्तावना
- 11.1 उद्देश्य
- 11.2 जाति का अर्थ तथा परिभाषा
 - 11.2.1 जाति व्यवस्था की विशेषताएँ
 - 11.2.2 जाति-व्यवस्था एवं उसका रूपान्तरण
- 11.3 जातीय गतिशीलता
 - 11.3.1 संस्कृतिकरण
 - 11.3.2 पश्चिमीकरण
- 11.4 सारांश
- 11.5 परिभाषिक शब्दावली
- 11.6 अभ्यास-प्रश्नों के उत्तर
- 11.7 संदर्भ ग्रंथ सूची
- 11.8 सहायक उपयोगी पाठ्य सामग्री
- 11.9 निबंधात्मक प्रश्न

11.0 प्रस्तावना

समाज चाहे किसी भी श्रेणी, काल-खण्ड या युग का हो, उसके स्वरूप में असमानता एवम् विभेदीकरण का किसी-न-किसी रूप में पाया जाना एक अनिवार्यता है। सामाजिक विभेदीकरण के अन्तर्गत व्यक्तियों को अनेक वर्गों, भाषा, आयु, सगे-सम्बन्धियों, नातेदारों, लिंग, धर्म, स्थान-विशेष इत्यादि का आधार लेकर अलग किया जाता है। समाजशास्त्रीय परिप्रेक्ष्य में देखें तो सामाजिक स्तरीकरण वह प्रक्रिया है जिसके द्वारा समाज के प्रत्येक व्यक्ति और वर्ग का जन्म, शिक्षा, व्यवसाय और आय के आधार पर विभाजन किया जाता है।

जाति-व्यवस्था की स्थापना हमारी भारतीय सामाजिक संरचना की आधारभूत विशेषता है। भारत में सामाजिक स्तरीकरण की प्रक्रिया का मूल आधार जहाँ जाति और वर्ग रहे हैं तो वहीं पश्चिमी देशों में केवल वर्ग। भारत में हिन्दू-समाज प्राचीन समय से ही जाति के आधार पर अनेक श्रेणियों में बँटा रहा है। जाति-व्यवस्था के आने के कारण हमारा समाज समस्तरीय और विषमस्तरीय रूप से अनेक भागों में बँटता चला गया। तुलनात्मक रूप से देखें तो जाति-व्यवस्था के अन्तर्गत अनेक श्रेणियों में बँधे समूह वर्ग-व्यवस्था में श्रेणीबद्ध समूहों से कहीं अधिक संख्या में हैं। भारत की वर्तमान सामाजिक संरचना को देखें तो पता चलता है कि, वर्तमान में समाज न केवल जातीय आधार पर बल्कि वर्गीय आधार पर भी स्तरीकृत हो रहा है।

11.1 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ कर आप में निम्नांकित योग्यता आ जाएगी:

- जाति तथा वर्ग की अवधारणा को स्पष्ट का सकेगें,

- आधुनिक समय में जाति में आए परिवर्तन को स्पष्ट कर सकते हैं,
- जातीय गतिशीलता, संस्कृतिकरण तथा पाश्चात्यकरण की व्याख्या कर सकते हैं और,
- जाति तथा वर्ग में भेद कर सकते हैं।

11.2 जाति का अर्थ एवं परिभाषा

जाति शब्द के अंग्रेजी पर्याय कास्ट 'Caste' का उद्भव पुर्तगाली भाषा 'Casta' शब्द से हुआ है, जिसका अर्थ नस्ल, मत, विभेद तथा गति से है। जाति को परिभाषित करना एक कठिन कार्य है। क्योंकि, यह बहुत ही जटिल और गूढ़ अवधारणा है। जाति व्यवस्था जन्म से व्यक्ति को विशेष सामाजिक स्थिति प्रदान करती है, जिसमें आजीवन कोई परिवर्तन नहीं किया जा सकता। विभिन्न विद्वानों ने जाति को अलग-अलग प्रकार से परिभाषित करने का प्रयास किया है जो इस प्रकार है:-

हरबर्ट रिज़ले के अनुसार - "जाति ऐसे परिवारों का समुच्चय है, जिनके नाम एक से हों, जो एक ही वंश से सम्बन्ध रखते हों, जिनके मिथकीय/काल्पनिक पूर्वज, चाहे वे मानवीय हों या अलौकिक, एक ही हों, जो एक ही पदानुक्रम व्यवस्था का पालन करते हों तथा जिसका अनुपालन ऐसे लोग करते हों जो एक जातीय समुदाय का निर्माण कर सकने में सक्षम हों।"

डी० एन० मजूमदार ने जाति की संक्षिप्त परिभाषा देते हुए कहा, "जाति एक बन्द वर्ग है।"

पी० एच० कूले ने जाति को वंशानुगत व्यवस्था से जोड़ते हुए कहा है - "जब एक वर्ग विशेष मुख्य रूप से वंशानुगत पदानुक्रम व्यवस्था पर आधारित हो तो हम उसे जाति का नाम दे सकते हैं।"

केतकर के अनुसार जाति एक सामाजिक समूह है जिसकी कुछ विशेषतायें हैं - (1) जाति की सदस्यता उन व्यक्तियों तक ही सीमित है जो कि, जाति-विशेष के सदस्यों से ही पैदा हुए हैं और इस

प्रकार उत्पन्न होने वाले सभी व्यक्ति जाति में आते हैं, (2) जिसके सदस्य एक अविच्छिन्न सामाजिक नियमों के द्वारा अपने समूह के बाहर विवाह करने से रोक दिए गए हैं।

उपरोक्त परिभाषाओं से स्पष्ट होता है कि, जाति एक ऐसा सामाजिक समूह है जिसकी सदस्यता जन्म के आधार पर मिलती है। जाति में इतनी शक्ति होती है कि, वह अपने समूह के लोगों पर खान-पान, विवाह, नौकरी, उद्योग और सामाजिक सहवास से सम्बन्धित नियम-कायदे और प्रतिबन्ध लगाती है। यहाँ यह बात भी ध्यान देने योग्य है कि, जाति-व्यवस्था की प्रकृति गतिशील है और इसके द्वारा लागू प्रतिबन्धों को आखिरी नहीं कहा जा सकता है। उदाहरण के तौर पर व्यक्ति कभी-कभी सम्मान, धन-सम्पत्ति और सत्ता आदि को आधार बनाकर अपनी जाति को बदलने की ताकत रखता है और ऐसा करता भी है। इसी कारण हम देख सकते हैं कि कई विद्वानों ने जाति का परिभाषा के रूप में वर्णन करने की जगह जाति की विशेषताओं का उल्लेख किया है, जिनमें हट्टन, दत्ता, घुरिये आदि मुख्य हैं। जाति भारत की एक मौलिक सामाजिक संस्था के रूप में जानी जाती है।

बोध प्रश्न 1

i) जाति की सदस्यता का आधार क्या है?

- | | |
|------------|------------|
| 1. जन्म | 2. शिक्षा |
| 3. संपत्ति | 4. व्यवसाय |

.....

ii) जाति की किसी एक परिभाषा का उल्लेख कीजिए।

.....

.....

11.2.1 जाति की विशेषताएँ

1. **जाति का सोपान जन्म पर आधारित-** जाति की सदस्यता जन्म से मिलती है। जन्म के समय व्यक्ति की जो जाति होती है वह मरने तक उसी जाति का रहता है जैसे ब्राह्मण जाति में जन्मा व्यक्ति ब्राह्मण की तरह ही मरेगा। चाहे वह जीवन भर पुण्य करे या पाप करे। मैकिम मेंरियट ने किशनगढ़ी की जातियों का अध्ययन कर उनके भोजन और पानी के चरों को आधार मानकर श्रेणियाँ बनाई हैं। जातियों में श्रेणीकरण को निश्चित करने की एक प्रचलित परम्परा है जिसे रोटी, बेटी और व्यवहार कहा जाता है। अर्थात् कुछ लोगों के हाथों से पानी पी सकते हैं, कुछ लोगों के हाथ से बना खाना खा सकते हैं और कुछ लोगों के साथ वैवाहिक सम्बन्ध बनाये जा सकते हैं। वास्तव में समूची जाति-व्यवस्था को सोपानों में बाँधने का मूल आधार यही रिवाज रहे।

2. **सहभोगी और सामाजिक सहवास पर प्रतिबन्ध-** जाति-प्रथा में ऐसे नियम जो निषेधात्मक नियम रहे उनमें व्यक्तियों के आपस में भोजन और व्यवहार आदि बातों के सम्बन्ध में प्रतिबन्ध मुख्य हैं। कुछ जातियों में यह नियम बना कि वह दूसरी जाति के लोगों के हाथ का बना भोजन नहीं खा सकती है तो वहीं कुछ लोगों के साथ एक पंक्ति में बैठना और खाना मना किया गया है। श्रीनिवास ने भोजन सम्बन्धी निर्योग्यताओं के आधार पर भोजन को पवित्र और अपवित्र दो प्रकार का माना है। उन्होंने घी से बने भोजन को पवित्र और पानी से बने भोजन को अपवित्र माना। जैसे ब्राह्मण यदि खाना बनाए तो सभी जातियों के लोग उसके हाथ का बना खाना चाहे कच्चा हो या पक्का, खाते हैं

पर यदि शूद्र व्यक्ति खाना बनाए तो उसके हाथ का बना कैसा भी भोजन ऊँची जाति के लोग ग्रहण नहीं करते।

3. सामाजिक भागीदारी में धार्मिक नियोग्यताएं- पवित्रता और अपवित्रता का विचार जातियों में बहुत अधिक महत्त्व रखता है, इसको आधार मानकर कुछ जातियों ओर व्यवसायों को अपवित्र भी समझा गया है। इस धारणा के पीछे धार्मिक विश्वासों की भी बड़ी भूमिका रही है। व्यवसाय-विशेष के अलावा कुछ व्यक्ति भी जाति द्वारा अपवित्र माने गये हैं जैसे एक स्त्री जब विधवा हो जाती है तो इतनी अपवित्र मान ली जाती है कि, वह किसी शुभ कार्य में शामिल नहीं हो सकती। इन सभी निषेधों का कारण सामाजिक-सांस्कृतिक और धार्मिक-विश्वास हैं।

4. प्रदत्त-प्रस्थिति- जन्म लेने के साथ ही जाति के सदस्य की प्रस्थिति निश्चित हो जाती है। उसी प्रस्थिति के दायरे में वह अपना जीवन व्यतीत करता है। धन, व्यवसाय, शिक्षा आदि में बढ़ोत्तरी करके भी अपनी जाति को व्यक्ति बदल नहीं सकता है। जैसे क्षत्रिय जाति का व्यक्ति हमेशा अपनी जाति के दायरे में रहेगा, उसके नियम, कायदे-कानून और सामाजिक व्यवहार सम्बन्धी निषेधों का पालन करना उसके लिए जाति की एक अनिवार्य शर्त होगी।

5. विवाह सम्बन्धी प्रतिबन्ध- प्रत्येक जाति में विवाह से सम्बन्धित कई नियम हैं, पाबन्दियां हैं जिनका आज भी पालन किया जाता है। इन नियमों में अन्तर्विवाह का नियम मुख्य है। वास्तव में हर एक जाति अनेक उपजातियों में बंटी हुई है और उपजातियां अन्तर्विवाही समूह हैं। जातियों पर भी कई परिवर्तनों का प्रभाव पड़ा है और वह बदली भी अवश्य हैं परन्तु अन्तर्विवाह के नियम द्वारा आज भी जाति-व्यवस्था एक सूत्र में बंधी हुई है। हम समाज में देख सकते हैं कि, जातियों के कुछ सदस्यों ने अपनी जाति के बाहर जाकर भी विवाह किए और आज भी कर रहे हैं। इस प्रकार के विवाह अर्न्तजातीय विवाह कहलाते हैं।

6. निश्चित व्यवसाय- जाति-व्यवस्था की एक मुख्य विशेषता रही है उसके द्वारा किया गया व्यवसाय का निर्धारण। प्रत्येक जाति का एक परम्परा से चला आ रहा व्यवसाय होता है जो पीढ़ी-दर-पीढ़ी उस जाति के सदस्यों में एक से दूसरे को हस्तांतरित होता रहता है। आधुनिक समय में किए गए कई शोधों से पता चला है कि जातियों के लिए निश्चित किया गया उद्योग-धन्धों का निर्धारण आजकल वैसे लागू नहीं होता जैसे पहले होता था। आज बहुत-सी जातियों ने पीढ़ियों से चले आए धन्धों को बदल दिया है, उदाहरण के तौर पर लें तो ब्राह्मण जाति आज पुरोहितगिरी के कार्य को छोड़कर अन्य कार्यों, उद्योगों में भी लगी हुई है और क्षत्रिय जाति के व्यक्ति अध्यापन सम्बन्धी कार्यों में लगे हैं। यही स्थिति अन्य जातियों में भी देखी जा सकती है।

बोध प्रश्न-2

1. जाति की किन्हीं दो विशेषताओं का उल्लेख चार पंक्तियों में कीजिए।

.....

.....

.....

.....

11.2.2 जाति-व्यवस्था एवं उसका रूपान्तरण

प्राचीन काल से लेकर वर्तमान समय तक अनेक परिवर्तन होते आए हैं। जाति-व्यवस्था की संरचना और संस्कृति में परिवर्तन आया है। जाति व्यवस्था में परिवर्तन लाने वाले कारकों में सबसे महत्वपूर्ण घटक इस प्रकार हैं:-

1. औद्योगीकरण- औद्योगिक क्रान्ति के द्वारा औद्योगिक उन्नति हुई और बड़ी संख्या में नगरों का विकास हुआ। इस प्रक्रिया के अन्तर्गत नये-नये उद्योगों और व्यवसायों की भी स्थापना हुई। पूंजीवादी अर्थव्यवस्था ने भी औद्योगीकरण को विकसित होने में सहायता ही की। औद्योगीकरण और नगरीकरण का दूर-दूर तक प्रसार होने के कारण विज्ञान और उच्च तकनीकी ज्ञान को बहुत बढ़ावा मिला है। विकसित कस्बों और महानगरों में आजीविका प्राप्ति के लिए बसे विविध जातियों और संस्कृतियों के लोगों को आपस में घुलने-मिलने के अवसर प्रदान हुए, शिक्षा के प्रसार और व्यवसाय के इन नवीन समीकरणों ने जातिगत प्रतिबन्धों को कमजोर कर जाति-व्यवस्था में कई परिवर्तन किए हैं।

2. शिक्षा का सार्वजनिकीकरण- आज शिक्षा का अधिकार सभी जातियों को समान रूप से प्राप्त है, यह कुछ राजसी घरानों, अभिजात वर्गों तथा उच्च जातियों तक सिमटी हुई नहीं है। आज की शिक्षण-पद्धति से भिन्न प्राचीन-पद्धति में शिक्षा का स्वरूप धर्म पर आधारित था, अतः स्वाभाविक रूप से वह जाति-व्यवस्था पर बल देती थी और चंद ऊँची जातियों की शिक्षा तक ही सीमित थी। अंग्रेजों के भारत में आने के बाद भारत में पाश्चात्य शिक्षण-पद्धति का आरम्भ हुआ जिसका स्वरूप धर्मनिरपेक्ष था। इस प्रकार की शिक्षण-पद्धति के आने से विभिन्न जातियों का आपस में मेल-जोल बढ़ता चला गया और व्यक्तियों के मन में समानता, भिन्नता और स्वतंत्रता के प्रगतिशील विचार उत्पन्न होने लगे। शिक्षा के समुचित प्रसार से जाति-प्रथा धीरे-धीरे निर्बल होती गई।

3. वैश्वीकरण और उत्तर-आधुनिकता- वैश्वीकरण के द्वारा सारी दुनिया एक ग्लोबल गाँव के रूप में सिमट गई है। भारत में रोज एक नये व्यावसायिक उपक्रम की स्थापना हो रही है, नई-नई कम्पनियां आ रही हैं, जहाँ व्यक्ति को जाति के आधार पर नौकरी न देकर उनकी योग्यता के आधार पर उन्हें

कार्य मिल रहा है। गाँव विकसित होकर शहर में बदल रहे हैं, शहर नगरों में परिवर्तित हो रहे हैं, जिस कारण गाँवों में फैली रूढ़ियाँ, कुरीतियाँ पहले जैसी प्रभावी नहीं रह गई हैं।

4. अस्पृश्यता की समाप्ति- सरकार द्वारा ऐसे नियम बनाए गये हैं, जिन्होंने अस्पृश्यता की रोकथाम में विशेष योगदान दिया है। जाति-व्यवस्था के अत्यन्त कठोर नियम होते थे जिनके अन्तर्गत पिछड़ी, अनुसूचित जाति और जनजातियों को ऊँची कहे जाने वाली जातियाँ अपने से हेय दृष्टि से देखती थीं और उनसे एक खास दूरी रखती थीं। अस्पृश्यता निवारण हेतु बने अधिनियमों ने इन भेदभावों को काफी हद तक दूर करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है।

5. यातायात और संचार के साधनों में उन्नति- यातायात के साधनों में प्रगति होने से सामाजिक गतिशीलता में वृद्धि के साथ-साथ नए-नए नगरों, उद्योग-धन्धों, व्यवसायों, मिल और कारखानों की उत्पत्ति एवं उन्नति होती है। यातायात में वृद्धि और संचार माध्यमों की तीव्रता ने देश में फैली जाति-व्यवस्था की जड़ों को हिला कर रख दिया है। लोगों की अब एक सोच विकसित हो गई है, वह इन छोटी-छोटी बातों पर विचार नहीं करते हैं बल्कि अब उनकी सोच का दायरा भी बढ़ गया है। जाति के लिए जिन नियोगताओं को निर्धारित किया गया था वह अब धुधली-सी पड़ गई हैं।

6. राज्य की दृष्टि में जन्म, लिंग, धर्म और रंग अप्रासंगिक हैं- भारत के नीति-निर्माताओं ने भारतीय संविधान में ऐसी कुछ धाराओं को शामिल किया, जिन्होंने जाति-व्यवस्था से सम्बन्धित नकारात्मक प्रथाओं व रीतियों से समाज को मुक्त करने में सहायता की। इन धाराओं ने यह स्पष्ट रूप से घोषित किया कि, राज्य के प्रत्येक नागरिक के साथ समानता का व्यवहार करते हुए धर्म, प्रजाति, लिंग और जन्म-स्थान आदि के नाम पर उनके साथ किसी भी तरह का भेदभाव नहीं किया जाएगा। अर्थात् सरकार की दृष्टि में भारत में रहने वाले विभिन्न धर्मों को मानने वाले लोग, सभी जातियों के लोग और पुरुष तथा स्त्री सभी एक ही हैं, अलग-अलग नहीं।

7. **कृषि में पूँजीवाद-** भारत में लगभग 80 प्रतिशत जनता की आजीविका का मुख्य साधन कृषि है। वर्ष 1967 में भारत के कुछ राज्यों जैसे हरियाणा, पंजाब, महाराष्ट्र, गुजरात और कर्नाटक में हरित-क्रान्ति का सूत्रपात हुआ जिससे जाति-व्यवस्था ग्रामीण स्तर पर कुछ कमजोर हुई। आज कृषि के पुराने तरीकों की जगह नयी कृषि तकनीकी का प्रयोग कृषि-कार्य में किया जा रहा है। भारतीय कृषि पर पूँजीवाद का गहरा प्रभाव पड़ा है जिसने एक ही जाति के अन्दर वर्ग बना दिये हैं। इससे हम यह समझ सकते हैं कि, वर्ग बन जाने के कारण जाति-व्यवस्था निर्बल हो गई। भारत के छोटे-छोटे गाँवों में आज भी रूढ़िवादिता और जाति-व्यवस्था चली आ रही है, उसमें बहुत परिवर्तन नहीं हुआ है।

8. **प्रजातन्त्रीय सिद्धान्त-** प्रजातन्त्रीय सिद्धान्तों की दिन-प्रतिदिन बढ़ती लोकप्रियता का कारण प्रत्येक नागरिक को समान स्थान पर रखना है। यह सिद्धान्त कहता है कि, किसी व्यक्ति के साथ जन्म और परिवार के आधार पर ऊँच-नीच का भेद करना ठीक नहीं है। संविधान के द्वारा अनुसूचित जातियों-जनजातियों और समाज के पिछड़े वर्गों को विकास की मुख्य-धारा में लाने के लिए कुछ विशेष अधिकार दिये गए हैं। इन सबके कारण ऊँची कही जाने वाली जातियों के नियमों में आज कुछ ढीलापन भी आया है। प्रजातन्त्रीय व्यवस्था कोई सामान्य-सी व्यवस्था न होकर सबके हितों की सोचने वाली है, इसके प्रभाव से ही जातियों के नियंत्रण में कुछ कमजोरी आई है।

बोध प्रश्न-3

1. जाति प्रथा में परिवर्तन लाने वाले कारकों में से किन्ही तीन घटकों को लिखिए।

.....

.....

.....

11.3 जातीय गतिशीलता

जाति अनेक श्रेणियों में विभक्त होती है, इसमें सभी व्यक्तियों की प्रस्थिति पहले से ही निश्चित होती है। जब इस पूर्व-निश्चित प्रस्थिति में परिवर्तन आने लगता है, तब इसे ही जातीय-गतिशीलता कहते हैं। गतिशीलता से सामान्यतया हमारा अभिप्राय एक व्यक्ति अपने जीवन-काल में जिन उतार-चढ़ावों का सामना करता है, उस प्रक्रिया से है। परिवर्तन की यह प्रक्रिया कभी-कभी एक समूह में भी देखी जाती है, जोकि गतिशीलता का ही एक उदाहरण है। प्रसिद्ध समाजशास्त्री एम. एन. श्रीनिवास ने जातीय गतिशीलता के जिस दृष्टिकोण को प्रकट किया, उसने जाति के मिथक को तोड़ने का काम किया। उनके अनुसार जाति-व्यवस्था की यह विशेषता है कि, इसके अन्तर्गत आने वाले घटकों का स्थान तो हमेशा के लिए निश्चित होता है पर साथ ही इसमें गतिशीलता की सम्भावना भी बनी रही है। यह विशेषता जाति-व्यवस्था को अन्य अपेक्षाकृत कठोर व्यवस्थाओं से अलग स्थान पर रखती है। एक व्यक्ति की जाति को उसके संपूर्ण जीवन के लिए निश्चित करने का कार्य जाति-व्यवस्था के द्वारा किया जाता है। जातीय गतिशीलता को संस्कृतिकरण और आधुनिकीकरण की प्रक्रिया की सहायता से समझा जा सकता है।

11.3.1 संस्कृतिकरण

सर्वप्रथम एम. एन. श्रीनिवास ने संस्कृतिकरण की अवधारणा को प्रयुक्त किया था। उनके अनुसार संस्कृतिकरण एक ऐसी प्रक्रिया है जिसके द्वारा एक निम्न हिन्दू जाति अथवा कोई जनजाति या अन्य

समूह किसी उच्च और प्रायः द्विज जाति के समान अपने रीति-रिवाजों, कर्मकाण्डों, विचार-धारा और जीवन-शैली को बदलने लगता है। उपरोक्त परिभाषा के माध्यम से यह प्रकट होता है कि, जाति-व्यवस्था के अन्तर्गत होने वाली गतिशीलता संस्कृतिकरण की प्रक्रिया का एक महत्वपूर्ण भाग है। यह गतिशीलता इस प्रक्रिया द्वारा स्पष्टतः समझी जाती है। उदाहरण के तौर पर ब्राह्मणों की जीवन-शैली, कर्मकाण्ड, रहन-सहन और खान-पान सम्बन्धी व्यवहारों का अनुकरण करते हुए निम्न जातियों ने मांसाहारी भोजन का निषेध और मदिरापान आदि को त्याग करना प्रारम्भ कर दिया है। यह संस्कृतिकरण की प्रक्रिया का ही अंग है। इस सम्बन्ध में यह बात ध्यान देने योग्य है कि, संस्कृतिकरण की यह प्रक्रिया जाति में संरचनात्मक परिवर्तन न करते हुए केवल पदमूलक परिवर्तन को सूचित करती है। अर्थात् संस्कृतिकरण में किसी जाति-विशेष से सम्बन्धित कुछ लोगों की जीवन-शैली और आचार-विचार में अवश्य परिवर्तन आ जाता है परन्तु यह परिवर्तन भी इस जाति-विशेष को अपने से ऊँची जातियों से आगे नहीं बढ़ने देता है।

11.3.2 पश्चिमीकरण

पश्चिमीकरण की अवधारणा संस्कृतिकरण आदि अन्य अवधारणाओं से तुलनात्मक रूप में कहीं अधिक सहजता और सरलता लिए हुए है। एम. एन. श्रीनिवास ने संस्कृतिकरण को परिभाषित करते हुए कहा कि, जिस प्रक्रिया के अन्तर्गत ब्रिटिश उपनिवेशकाल में 150 वर्षों से भी अधिक समय तक भारतीय समाज की जातियों में और संस्कृति में जो भी परिवर्तन आए, उसे पश्चिमीकरण या पाश्चात्यकरण कहते हैं। इस शब्द के अन्तर्गत विशेष रूप से प्रौद्योगिकी संस्थाओं, वैचारिकी और मूल्यों आदि विभिन्न स्तरों पर होने वाले परिवर्तनों का समावेश किया जाता है। भारत में अंग्रेजों के आने और शासन करने से पहले भारतीय समाज में हिन्दू-जीवन को जाति-प्रथा के नियमों और प्रतिबन्धों ने बुरी तरह से जकड़ा हुआ था। जब भारत में अंग्रेजों की सत्ता स्थापित हो गई तब

औद्योगिकरण का विस्तार हो जाने के कारण नगरीकरण का होना प्रारम्भ होने लगा, जिसके कारण गाँवों की जनता हजारों की संख्या में रोजी-रोटी की तलाश में नगरों में आने लगी। इसके कारण गाँव पहले की तरह आत्मनिर्भर नहीं रह गए। भारतीय लोगों के ब्रिटिश समाज के निरन्तर सम्पर्क में आने के कारण भारत में पाश्चात्य शिक्षा, मूल्य और नवीन तकनीक का भी आगमन होने लगा, जिसने भारतीय समाज के परम्परागत स्वरूप को बदलना प्रारम्भ कर दिया। यह प्रक्रिया पश्चिमीकरण कहलायी। जब पश्चिमी मूल्यों, पाश्चात्य शिक्षा आदि के प्रभाव से उच्च जातियों की परम्पराओं और रीति-रिवाजों आदि में परिवर्तन आने लगता है, यह पश्चिमीकरण कहलाता है।

आजादी के बाद जाति में कई बदलाव आये हैं, जिसे कि मुख्य रूप से स्तरीकरण के रूप में देखा जा सकता है। पहला बदलाव संवैधानिक प्रक्रिया द्वारा आया जोकि, मौलिक परिवर्तन रहा। संविधान के द्वारा यह निश्चित किया गया है कि, राज्य की दृष्टि में जाति का आधार लेकर व्यक्तियों के बीच कोई भेदभाव नहीं किया जाएगा। दूसरा बदलाव के अन्तर्गत उन विशेष योजनाओं को लागू करना है जिनको दलितों और अनुसूचित जनजातियों के विकास के लिए बनाया गया। पिछले कुछ दशकों में हमारे समाज में शिक्षा का तेजी से प्रचार हुआ है जोकि, इस दिशा में सहायक ही सिद्ध हुआ है। वर्तमान में जातियों में आए परिवर्तन और गतिशीलता का परिणाम यह हुआ कि उसने पारम्परिक श्रेणीकरण की व्यवस्था को काफी हद तक बदल दिया है। इसका मुख्य कारण विज्ञान, प्रौद्योगिकी के प्रसार और धर्मनिरपेक्षता की प्रकृति है, जिसने उन मूल्यों को ही हिलाकर रख दिया है जो पवित्र और अपवित्र की धारणा को पोषित करती थीं। समाज में इसका सकारात्मक प्रभाव यह पड़ा कि दलित जाति को मन्दिरों में प्रवेश का अधिकार मिला है। भारत के सुदूर ग्रामों को यदि छोड़ दिया जाए तो छोटे कस्बों और नगरों, महानगरों में छुआछूत एवं जातिगत भेदभाव की भावना में कुछ कमी आई है। आज दलितों के हाथ में सत्ता और राजनैतिक अधिकारों के आ जाने से वह अपने हक के लिये आवाज उठा रहे हैं, अपने अधिकारों के लिए संघर्ष कर रहे हैं। आरक्षण की सुविधा द्वारा देश के

सभी दलित एक डोर में बंध गए हैं। यह सभी परिवर्तन जाति के स्वरूप में आए मूलभूत परिवर्तनों के ही सूचक हैं।

बोध प्रश्न-4

1. जातीय गतिशीलता में संस्कृतिकरण की भूमिका को पांच पक्तियों में समझाइए।

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

11.4 सारांश

सामाजिक स्तरीकरण की महत्वपूर्ण व्यवस्थाओं के रूप में जाति और वर्ग विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। जाति-व्यवस्था का स्वरूप पारम्परिक तथा जन्मजात है जोकि अपने प्रतिबन्धों और नियम-कानूनों को बनाकर उनका अनिवार्य अनुपालन जाति के सदस्यों के लिए निर्धारित करती है। व्यक्ति को जाति की सदस्यता जन्म से प्राप्त होती है जिसके कारण वह अपनी जाति को परिवर्तित नहीं कर सकता है। औद्योगिकीकरण और नगरीकरण के विस्तार और समाज में लोकतान्त्रिक मूल्यों की स्थापना के कारण बढ़ी जागरूकता के कारण जाति-व्यवस्था में भी कुछ परिवर्तन हुए और उसके नियमों की कट्टरता में भी कुछ कमी आई है। शिक्षा के समुचित प्रसार और औद्योगिकीकरण तथा

नगरीकरण के उदय के साथ ही समाज में स्तरीकरण की एक नवीन व्यवस्था के रूप में सामाजिक वर्ग का प्रारम्भ हुआ। सामाजिक गतिशीलता और भूमण्डलीकरण आदि कारणों से जाति-व्यवस्था के समानान्तर वर्ग-व्यवस्था समाज में तेजी से विकसित हुई है और इसका महत्त्व निरन्तर बढ़ता जा रहा है। वर्ग-व्यवस्था जाति-व्यवस्था से कहीं अधिक लचीली और मुक्त व्यवस्था है जिसमें सदस्यता जन्म आधारित न होकर व्यक्तिगत क्षमता, धन-सम्पत्ति और उद्योग पर आधारित होती है जिसके कारण व्यक्ति एक वर्ग से दूसरे वर्ग में प्रवेश कर सकता है। भारतीय समाज में जाति और वर्ग को एक-दूसरे से पूर्णतया पृथक नहीं किया जा सकता।

11.5 परिभाषिक शब्दावली

अन्तर्विवाह- अपनी जाति में विवाह करना, बाहर नहीं।

सोपान - व्यक्तियों का समूह जिसे पद के क्रमानुसार रखा गया है।

11.6 अभ्यास-प्रश्नों के उत्तर

बोध-प्रश्न-1

- i) जन्म
- ii) विद्यार्थी को इस प्रश्न का उत्तर जाति का अर्थ एवं परिभाषा शीर्षक के अर्न्तगत दिये गये विवरण में से लिखना है।

बोध-प्रश्न-2

विद्यार्थी को इस प्रश्न का उत्तर जाति की विशेषताएँ शीर्षक के अर्न्तगत दिये गये विवरण में से लिखना है।

बोध-प्रश्न-3

इस प्रश्न का उत्तर जाति-व्यवस्था एवं उसका रूपान्तरण शीर्षक के अर्न्तगत दिये गये विवरण में से लिखना है।

बोध-प्रश्न-4

विद्यार्थी को इस प्रश्न का उत्तर जातीय गतिशीलता शीर्षक के अर्न्तगत दिये गये विवरण में से लिखना है।

11.7 संदर्भ ग्रंथ सूची

शर्मा, के. एल. 2001. कास्ट एंड क्लास इन इंडिया. रावत पब्लिकेशन. जयपुर.

दोषी व जैन, 2009, समाजशास्त्र: नई दिशाएँ, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली.

दोषी व जैन, 2009, भारतीय समाज: संरचना और परिवर्तन. नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली.

हसनैन, नदीम. 2005. समकालीन भारतीय समाज: एक समाजशास्त्रीय परिदृश्य. भारत बुक सेन्टर. लखनऊ.

अटल, योगेश . 1968. द चेन्जिंग फ्रटीयर ऑफ कास्ट. नेशनल पब्लिशिंग हाउस. दिल्ली.

जी. एस. घुरिए . 1961. कास्ट, क्लास एण्ड ऑक्यूपेशन. पॉपुलर प्रकाशन. बम्बई

सिंह, योगेन्द्र. 1988. सोशल स्ट्रेटीफिकेशन एण्ड चेंज इन इंडिया. मनोहर. दिल्ली.

11.8 सहायक उपयोगी पाठ्य सामग्री

शर्मा, के. एल. 2001. कास्ट एंड क्लास इन इंडिया. रावत पब्लिकेशन. जयपुर.

जी. एस. ,घुरिए 1979. कास्ट एण्ड रेस इन इंडिया. पॉपुलर प्रकाशन. बम्बई.

जी. एच. हट्टन 1951. कास्ट इन इंडिया. ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस. बम्बई.

बीरस्टीड, राबर्ट. 1957. द सोशियल आर्डर. मैकग्रू-हिल बुक को. न्यूयार्क.

दत्ता, एन. के. 1931. ओरिजन एण्ड ग्रोथ ऑफ कास्ट इन इंडिया. द बुक को. कोलकत्ता.

11.9 निबंधात्मक प्रश्न

1. वर्तमान समय में जाति में कौन-कौन से परिवर्तन हो रहे हैं। इन परिवर्तनों के लिए उत्तरदायी कारकों का उल्लेख कीजिए।
2. जाति क्या है? जातीय गतिशीलता की संक्षेप में विवेचना कीजिए।
3. जाति क्या है? यह वर्ग से किस प्रकार भिन्न है।

इकाई-12 **जनजातीय समाज: अर्थ, विशेषताएँ,
वर्गीकरण, विवाह एवं परिवार**
**Tribal Society: Meaning, Characteristics,
Classification, Marriage & Family**

इकाई की रूपरेखा

12.0 प्रस्तावना

12.1 उद्देश्य

12.2 अर्थ एवं परिभाषायें

12.3 जनजातीय समाज की विशेषतायें

12.4 भारतीय समाज के विभिन्न क्षेत्रों में जनजातियों की संख्या

12.5 भारतीय समाज में जनजातियों का वर्गीकरण विभिन्न स्वरूपों में

12.6 जनजातीय समाज में विवाह के स्वरूप

12.7 जनजातीय समाज में जीवनसाथी चुनने के तरीके

12.8 जनजातीय समाज में पाये जाने वाले परिवार

12.9 सारांश

12.10 परिभाषिक शब्दावली

12.11 अभ्यास-प्रश्नों के उत्तर

12.12 संदर्भ ग्रंथ सूची

12.13 सहायक उपयोगी पाठ्य सामग्री

12.14 निबंधात्मक प्रश्न

12.0 प्रस्तावना

जनजातीय समाज हमारे देश के विभिन्न भागों में देखे जाते हैं। गोड़, संधार, जौनसार, हो, टोडा, बैंगा, भील, मुन्डिया आदि विभिन्न जनजातियाँ हमारे समाज में पाये जाते हैं। जनजातियों की अपनी अलग संस्कृति व परम्परायें हैं जिसे वे अपने समाज के अर्न्तगत पालन करते हैं। जनजातीय समाज का विवाह का प्रचलन कैसा है व विवाह करने के तौर तरीके तथा जीवनसाथी चुनने का तरीका क्या-क्या है, इससे आप परिचित होंगे। जनजातियों का परिवार कैसा होता है, परिवार के कार्य व कार्यपद्धतियाँ कैसी होती है इसके बारे में जान पायेंगे। इस प्रकार जनजातियों की संस्कृति व मौलिकता से परिचित होकर आप यह जान पायेंगे कि भारतीय समाज में विभिन्न प्रकार की जनजातियों की कार्यशैली, जीवनशैली, संस्कृति व परम्परायें किस प्रकार भारतीय संस्कृति के साथ समायोजित हो रही है।

12.1 उद्देश्य

इस इकाई के अर्न्तगत आप इन बिन्दुओं से अवगत हो पायेंगे कि-

- जनजातीय समाज की अर्थ एवं परिभाषायें क्या हैं।

- जनजातीय समाज की विभिन्न विशेषतायें।
- भारतीय समाज के विभिन्न क्षेत्रों में जनजातियां की संख्या।
- जनजातियों का वर्गीकरण विभिन्न स्वरूपों में।
- जनजातीय समाज में विवाह का स्वरूप।
- जनजातीय समाज में जीवनसाथी चुनने के तरीके कौन-कौन से हैं।
- जनजातीय समाज में पाये जाने वाले परिवार किस प्रकार के हैं।

12.2 अर्थ एवं परिभाषायें

जनजाति या वन्य जाति से ऐसे समूह का बोध होता है जिसके सदस्य सभ्यता का आदिम अवस्था में निवास करते हैं। इस समूह का इस निश्चित भू-प्रदेश होता है तथा उसकी अपनी एक विशेष प्रकार की भाषा, धर्म, प्रथा और परम्परायें होती हैं। ये आज भी आर्थिक रूप से काफी पिछड़े हुए हैं। जनजाति समान नाम धारण करने वाले परिवारों का एक संकलन है जो समान बोली बोलते हों, एक ही भूखण्ड पर अधिकार करने का दावा करते हों अथवा दखल रखते हों। साधारणतया अन्तर्विवाही न हो, वे सभी जनजाति कहलाते हैं।

गिलीन तथा गिलीन ने जनजातियों को परिभाषित करते हुए कहा कि स्थानीय आदि समूहों के किसी भी संग्रह हो जो कि एक सामान्य क्षेत्र में रहता हो, सामान्य भाषा बोलता हो और सामान्य संस्कृति का अनुकरण करता हो एक जनजाति कहलाता है।

डॉ. रिवर्स ने जनजातियों को ऐसे सरल प्रकार का सामाजिक समूह बताया है जिसके सदस्य एक सामान्य भाषा का प्रयोग करते हों तथा युद्ध आदि सामान्य उद्देश्यों के लिए सम्मिलित रूप से कार्य करते हो, जनजाति कहलाते हैं।

आक्सफोर्ड शब्दकोष के अनुसार जनजाति विकास के आदिम अथवा बर्बर आचरण में लोगों का एक समूह है जो एक मुखिया की सत्ता स्वीकारते हों तथा साधारणतया उनका अपना एक सामान पूर्वज हो, वे जनजाति की श्रेणी में आते हैं।

लूसी मेंयर ने जनजाति को सामान्य संस्कृति वाली जनसंख्या का एक स्वतंत्र राजनैतिक विभाजन माना है।

इस प्रकार उपरोक्त परिभाषाओं को आप पढ़कर जान गये होंगे कि एक जनजाति वह क्षेत्रीय मानव समूह है जो एक भू-भाग, भाषा, सामाजिक नियम, आर्थिक कार्य आदि विषयों में एक सामान्यतया एक ही सूत्र में बंधे होते हैं। इनमें आपसी समानता कायम होती है।

12.3 जनजातीय समाज की विशेषतायें

(1) **निश्चित सामान्य भू-भाग-** जनजाति का एक निश्चित और सामान्य भू-भाग होता है जिस पर वह निवास करती है। सामान्य भू-भाग की अनुपस्थिति में जनजाति में उसकी अन्य विशेषतायें, सामुदायिक भावनायें, सामान्य बोली आदि भी नहीं रहेगीं। इसलिए जनजाति के लिए एक सामान्य निवास-स्थान जरूरी है।

(2) **एकता की भावना-** किसी विशेष भौगोलिक क्षेत्र में रहने वाले ही हर एक समूह को जनजाति नहीं कहा जा सकता जब तक कि उसके सदस्यों में परस्पर एकता की भावना न हो। यह मानसिक तत्व जनजाति की एक अनिवार्य विशेषता है।

(3) **सामान्य बोली-** जनजाति के सदस्य एक सामान्य भाषा बोलते हैं। इससे भी उसमें एकता की सामुदायिक भावना का विकास होता है।

(4) **अन्तर्विवाही समूह** - जनजाति के सदस्य सामान्यतया अपनी जाति में ही विवाह करते हैं, परन्तु अब यातायात और सन्देशवाहन के साधनों के विकास से अन्य जातियों से सम्पर्क में आने के कारण जनजातियों से बाहर विवाह करने की प्रथा भी बढ़ती जा रही है।

(5) **रक्त-सम्बन्धों का बन्धन** - जनजाति में पाई जाने वाली सामुदायिक एकता की भावना एक बड़ा कारण उनके सदस्यों में परस्पर रक्त-सम्बन्धों का बन्धन है। जनजाति के सदस्य अपनी उत्पत्ति किसी सामान्य, वास्तविक या काल्पनिक पूर्वज में मानते हैं और इसलिए अन्य सदस्यों से रक्त-संबन्ध मानते हैं। इन संबंधों के आधार पर ही वे परस्पर बंधे रहते हैं।

(6) **राजनीतिक संगठन**- इस तरह हर एक जनजाति का एक राजनीतिक संगठन होता है जो जाति के सदस्यों में सामंजस्य रखता है, उनकी रक्षा करता है, और महत्वपूर्ण मसलों पर निर्णय देता है।

(7) **धर्म का महत्व**- जनजाति में धर्म का बड़ा महत्व है। जनजातीय राजनीतिक तथा सामाजिक संगठन धर्म पर आधारित है क्योंकि धार्मिक स्वीकृति प्राप्त कर लेने पर सामाजिक और राजनीतिक नियम अनुलंघनीय बन जाते हैं।

(8) **खानपान व्यवहार** - जनजातियाँ अधिकतर माँस आधारित वस्तुएँ खाती हैं, वे मद्यपान की भी आदि होती हैं।

12.4 भारतीय समाज के विभिन्न क्षेत्रों में जनजातियों की संख्या

सन् 1951 की जनगणना के अनुसार भारत में जनजातियों की जनसंख्या 1.91 करोड़ थी। परन्तु सन् 1956 में राज्यों के पुनर्संगठन के बाद भारत की अनुसूचित जनजातियों की जनसंख्या प्रायः 2.25 करोड़ बताई जाती थी। सन् 2001 की जनगणना के अनुसार भारत में अनुसूचित जनजातियों की कुल जनसंख्या 8.43 करोड़ है, जोकि भारत की जनसंख्या का 8.2 प्रतिशत है। जनसंख्या के

दृष्टिकोण से मध्य प्रदेश और छत्तीसगढ़ में जनजातियों की संख्या सबसे अधिक है। वहाँ इन जनजातियों के क्रमशः 1.22 करोड़ तथा 66.17 लाख लोग निवास करते हैं। इसके बाद जनजातियों की कुल जनसंख्या के आधार पर कुछ प्रमुख राज्यों की स्थिति इस प्रकार है- बिहार 7.58 लाख, उड़ीसा 81.45 लाख, महाराष्ट्र 85.77 लाख, गुजरात 74.81 लाख, राजस्थान 70.98 लाख, आन्ध्र प्रदेश 5.02 लाख और पश्चिम बंगाल 4.4 लाख।

अनुसूचित जाति तथा अनुसूचित जनजातियों की संख्या लाखों में-

वर्ष	कुल जनसंख्या	अनुसूचित जातियों की प्रतिशत	अनु.जनजातियों का प्रतिशत
1961	4390	14.6	6.9
1971	5480	14.5	6.9
1981	6850	15.5	7.9
1991	8443	16.48	8.08
2001	10286	16.20	8.20

12.5 भारतीय समाज में जनजातियों का वर्गीकरण विभिन्न स्वरूपों में

भारतीय समाज में जनजातियों का वर्गीकरण इस प्रकार है-

(1) **प्रजातीय वर्गीकरण-** भारत में प्रथम प्रजातीय वर्गीकरण का प्रयास सर हरबर्ट रिज्ले द्वारा किया गया। उन्होंने अपनी खोजों को पीपुल्स ऑफ इण्डिया नामक पुस्तक में 1916 में प्रकाशित कराया। वह समस्त भारतीय जनसंख्या को सात प्रजातीय प्रकारों में वर्गीकृत करते हैं-

(i) टर्को-इरानी

(ii) भारतीय-आर्य

(iii) स्कीथो-द्रविड़

(iv) आर्य-द्रविड़

(v) मंगोल-द्रविड़

(vi) मंगोली

(vii) द्रविड़

(2) **आर्थिक वर्गीकरण-** एडम स्मिथ का शास्त्रीय वर्गीकरण तथा थर्नवालड एवं हर्सकोविट्स की अभिनव वर्गीकरण का, जनजातियों को आर्थिक तौर पर वर्गीकृत करने के लिए सारे विश्व में प्रयोग किया गया है। थर्नवालड द्वारा प्रस्तुत योजना को भारतीय संदर्भ में सर्वाधिक स्वीकार्य माना जाता है तथा यह निम्न प्रकार है:-

- पुरुषों में सजातीय शिकारी समुदाय तथा जाल डालने वाले, महिलायें, संग्रहकर्ता के रूप में। चेंचू, खड़िया तथा कोरवा जैसी कुछ भारतीय जनजातियाँ इस श्रेणी में आती हैं।
- शिकारियों, जाल डालने वाले तथा कृषकों के सजातीय समुदाय- कामार, बैगा तथा बिरहोर भारत के कुछ उदाहरण हैं।
- शिकारियों, जाल डालने वाले कृषकों और शिल्पियों के श्रेणीकृत समाज- अधिकांश भारतीय जनजातियाँ इस श्रेणी में आती हैं। चेरों तथा अगारिया समाज ऐसी जनजातियाँ शिल्पी के रूप में प्रसिद्ध हैं।

- पशुपालक- टोडा तथा भीलों की कुछ उपजातियाँ भारत में ऐसी श्रेणी का शास्त्रीय उदाहरण प्रस्तुत करती हैं।
- सजातीय शिकारी तथा पशुपालक- इस श्रेणी का भारतीय जनजातियों में प्रतिनिधित्व नहीं है। टोडा शिकार नहीं करते और न वे मछली या चिड़िया पकड़ते हैं।
- नृजातीय दृष्टि से स्तरीकृत पशुओं का प्रजनन एवं व्यापार करने वाले- उत्तरांचल के निचले हिमालय क्षेत्र के भोटिया याक का प्रजनन करवाते हैं तथा घुमन्तु व्यापारी हैं।
- सामाजिक दृष्टि से श्रेणीबद्ध पशुपालक- शिकारी (कृषक तथा शिल्पी जनसंख्या रहित)।

(3) सांस्कृतिक सम्पर्क पर आधारित वर्गीकरण- वर्तमान शताब्दी के पांचवे दशक में वेरियर एल्विन ने एक सुमीमांकित वर्गीकरण का प्रयास किया। उन्होंने चार प्रकार के आदिवासियों का वर्णन किया है:-

- जो सर्वाधिक आदिम हैं तथा एक संयुक्त सामुदायिक जीवन व्यतीत करते हैं तथा कुल्हाड़े से कृषि करते हैं।
- वे जो, यद्यपि अपने एकाकीपन तथा पुरातन परम्पराओं से समान रूप से जुड़े हुए हैं, अपेक्षाकृत अधिक वैयक्तिक हैं, कुल्हाड़े से कम ही कृषि करते हैं।
- वे जो संख्या की दृष्टि से सर्वाधिक हैं, जो बाह्य प्रभाव के कारण अपनी जनजातीय संस्कृति, धर्म तथा सामाजिक संगठनों की क्षति के कारण अपनी पहचान खो रहे हैं।
- भील व नागा जैसी जनजातियाँ जो देश की प्राचीन कुलीनता की प्रतिनिधि कही जाती हैं, जो अपनी मूल जनजातीय जीवन को बचाये हुए हैं तथा जिन्होंने संस्कृति सम्पर्क की लड़ाई को जीत लिया है।

(4) धार्मिक विश्वासों पर आधारित वर्गीकरण- भारत के मुख्य धर्मों ने विचित्र जनजातीय धर्मों तथा देवकुलों को विविध रूपों में प्रभावित किया है तथा केवल वे जनजातीय समुदाय ही अब भी अपने मूल धार्मिक विश्वासों को शुद्धता से कायम रखे हैं जो घने वनों में नितांत एकाकी सामाजिक अस्तित्व का जीवन व्यतीत कर रहे हैं। 1961 तथा 1971 की जनगणना के आंकड़ों के आधार पर जनजातियों को निम्नलिखित धर्मों में वर्गीकृत किया जा सकता है-

- हिन्दू
- ईसाई
- बौद्ध
- इस्लाम
- जैन धर्म
- अन्य धर्म

बोध प्रश्न-1

1. जनजातीय समाज मुख्य विशेषता क्या है।

.....

.....

2. भारत में सबसे अधिक जनजाति किस प्रदेश में पाई जाती है।

.....

.....

3. कौन-सी जनजाति मातृसत्तात्मक है जहाँ माताओं की सत्ता चलती है।

.....

.....

.....

4. संतुलित विनिमय विवाह किसका द्योतक है।

.....

.....

.....

5. किस जनजाति में ममेरे तथा फुफेरे भाई-बहनों का विवाह होता है।

.....

.....

.....

12.6 जनजातीय समाज में विवाह के स्वरूप

जनजातियों में विवाह कितने प्रकारों से किया जाता है उन विभिन्न स्वरूपों को आप निम्न बिन्दुओं द्वारा स्पष्टतः समझ पायेंगे:-

(1) **एक विवाह** - एक-विवाह वह विवाह है जिसमें एक पुरुष केवल एक स्त्री से विवाह करता है और उस स्त्री में जीवनकाल में वह दूसरी स्त्री से विवाह नहीं कर सकता। जिन समाजों में स्त्रियों और पुरुषों का अनुपात बराबर है उनमें प्रायः एक-विवाह प्रथा पाई जाती है। एक-विवाह सभ्यता की भी एक उत्तम पराकाष्ठा है और भारतीय जनजातियों में एक-विवाह के प्रचलन का एक प्रमुख कारण उनका आधुनिक सभ्य समाज के सम्पर्क में आना है। एक-विवाह असम की खासी, बिहार की संथान और केरल की कादर जनजातियों में पाया जाता है।

(2) **बहुपत्नी विवाह** - एक पुरुष का अनेक स्त्रियों से विवाह बहुपत्नी-विवाह है। आर्थिक कठिनाईयों के कारण सामान्य रूप से बहुपत्नी-विवाह भारत की जनजातियों में नहीं किया जाता है। जनजातियों में धनी व्यक्ति ही अधिकतर बहुपत्नी-विवाह करते हैं। नागा, बैगा, टोडा तथा मध्य भारत की कुछ जनजातियों में बहुपत्नी प्रथा पाई जाती है।

(3) **बहुपति-विवाह** - बहुपति-विवाह वह विवाह है जिसमें एक पत्नी के साथ दो या अधिक पुरुषों का विवाह होता है। भारतीयों जनजातियों में इसका प्रचलन बहुपत्नी प्रथा से कहीं कम है। यह केरल के टियान, कुसुम्ब, कोट, लडारवी बोट, नीलगिरी पर्वत के टोडा, और देहरादून जिले में जौन-सार-बावर की खास जनजातियों में पाया जाता है। कश्मीर से असम तक इण्डो-आर्यन और मंगोल लोगों में भी यह प्रथा पाई जाती है। भारत के दक्षिण भाग में रहने वाले नायरो में भी बहुपति-प्रथा पाई जाती है और आज भी वहाँ इस प्रकार के विवाह के अनेक उदाहरण मिलते हैं।

12.7 जनजातीय समाज में जीवनसाथी चुनने के तरीके

भारतीय जनजातियों में निम्नलिखित तरीकों से जीवन-साथी चुने जाते हैं-

- **परिवीक्षा-विवाह (Probationary Marriage)**- इस प्रकार के विवाह में होने वाले पति-पत्नी को एक दूसरे को समझने का मौका दिया जाता है। इसी उद्देश्य से उनको कुछ समय एक साथ रहने की अनुमति दी जाती है, जिससे वे निकट से एक-दूसरे के स्वभाव को पूरी तरह समझ सकें। यदि वे इस परिवीक्षाकाल के पश्चात् विवाह करना चाहते हैं जो उनका विवाह हो जाता है। यदि उनका स्वभाव एक-दूसरे के उपयुक्त और अनुकूल नहीं होता तो वे पृथक् हो जाते हैं और युवक कन्या के माता-पिता को कुछ हर्जाना प्रदान करता है। इस प्रकार का विवाह केवल असम की कूकी जनजाति में पाया जाता है।
- **हरण-विवाह (Marriage by capture)** - यह भारत की अनेक जनजातियों में विभिन्न कारणों से प्रचलित है। जैसे-(i) लड़कियों की अत्याधिक कमी जैसे नागाओं में, (ii) अत्याधिक कन्या-मूल-प्रथा का प्रचलन जैसे होश जनजाति में हो, ऐसे विवाह को केपचोओपोरटि और गोंड इसे पोसीओथुर कहते हैं।

हरण विवाह के दो रूप हैं - (क) शारीरिक हरण और (ख) संस्कारात्मक या विधिवत् हरण। शारीरिक हरण में लड़का अपने साथियों के साथ वास्तविक रूप में लड़की पर आक्रमण करने या लड़की के गाँव पर आक्रमण करके लड़की को हर ले जाता है। गोंडों में तो कभी-कभी माता-पिता स्वयं लड़की के ममेरे या फुफेरे भाई से अपनी लड़की को हर ले जाने की प्रार्थना करते हैं और उस हालत में हरण का केवल एक नाटक मात्र खेला जाता है। इसके विपरित विधिवत् हरण-प्रथा खरिया, बिरहोज, भूमिज, भील, नागा, मुण्डा आदि जनजातियों में पाई जाती है। इस प्रकार के हरण में एक व्यक्ति सार्वजनिक स्थान में प्रेमिका की मांग में सिन्दूर भर देता है और हरण को एक मामूली उत्सव का रूप दे दिया जाता है। असम की जनजातियों में लड़कियों का हरण, एक गाँव जब दूसरे गाँव पर आक्रमण करता है, तब विवाह होता है। मध्य भारत की जनजातियों में हरण उत्सव के अवसर पर होता है।

- **परीक्षा-विवाह (Marriage by Trial)** - इस प्रकार के विवाह का मुख्य उद्देश्य विवाह के इच्छुक नवयुवक के साहस और शक्ति की परीक्षा करना होता है और ऐसा उचित भी है, क्योंकि जनजातियों का जीवन अत्यन्त कठोर और संघर्षपूर्ण होता है। इस प्रथा का उत्तम उदाहरण गुजरात की भील जनजाति है। उनमें होली के अवसर पर गोल-गाधेडो नामक एक लोक नृत्य का उत्सव होता है। इस स्थान पर एक बांस या पेड़ पर गुड़ और नारियल बांध दिया जाता है। इसके चारों ओर अन्दर के घेरे में कुमारी लड़कियाँ और बाहर के घेरे में अविवाहित लड़के नाचते हैं। लड़कों का प्रयत्न अन्दर के घेरे को तोड़कर गुड़ और नारियल को प्राप्त करना होता है। जबकि लड़कियाँ लड़को को ऐसा करने से भरसक रोकती हैं और उनका घेरा तोड़कर अन्दर जाने वाले लड़कों को खूब मारती, उनके कपड़े फाड़ती, बाल खींचती, यहाँ तक कि उनके शरीर के मांस को नोचती हैं, अर्थात् हर तरह से उन्हें अन्दर जाने से रोकती हैं। फिर भी यदि कोई लड़का उनके घेरे को तोड़कर पेड़ पर चढ़ जाता है और गुड़ खाने और नारियल तोड़ने में सफल होता है तो वह घेरे के अन्दर नाचती हुई लड़कियों में से जिसको भी चाहे उसे अपनी जीवन-संगिनी के रूप में चुनने का अधिकार प्राप्त कर लेता है।
- **क्रय-विवाह (Marriage by Purchase)** - इस प्रथा के अन्तर्गत विवाह के इच्छुक लड़के लड़की के माता-पिता को कन्या-मूल्य देते हैं। ऐसे विवाह संथाल, हो, ओरांव, नागा, कूब, भील आदि जनजातियों में पाये जाते हैं।
- **सेवा विवाह (Marriage by Service)** - अत्यधिक कन्या-मूल्य-प्रथा ने कुछ जनजातियों में गम्भीर समस्या उत्पन्न कर दी है जिसका हल सेवा या विनिमय-विवाह के द्वारा किया गया है। गोंड और बैगा जनजातियों में जो पुरुष कन्या-मूल्य देने में असमर्थ होते हैं वे कन्या के पिता के यहाँ नौकर के रूप में कुछ समय तक काम करते हैं और इस सेवा से

ही कन्या-मूल्य मानकर उस निश्चित समय पश्चात् माता-पिता अपनी लड़की का विवाह उसके साथ कर देते हैं।

- **विनिमय विवाह (Marriage by Exchange)-** इसका भी उद्देश्य कन्या-मूल्य की बुराईयों से बचना है। इस प्रकार की विवाह प्रथा में दो परिवार अपनी लड़कियों का विवाह एक-दूसरे के साथ कर देते हैं। यह एक ऐसा परिवार है जिसमें किसी को भी नुकसान नहीं होता है। यह प्रथा अत्याधिक कन्या-मूल्य के कारण प्रायः सभी भारतीय जनजातियों में पायी जाती है परन्तु असम की खासी जनजाति इस प्रकार के विवाह का निषेध करती है।
- **सहमति और सहपालन-विवाह -** बिहार की 'हो' जनजाति उसे 'राजी-खुशी' अर्थात् वर-बधू की सहमति और प्रसन्नता से होने वाला विवाह करते हैं। इसमें एक-दूसरे से प्रेम करने वाले युवक-युवती, माता-पिता द्वारा उनके विवाह का विरोध होने पर, गाँव से एक साथ इकट्ठे भाग जाते हैं, और उस समय तक वापस नहीं लौटते जब तक कि उनके माता-पिता इस विवाह से सहमत न हो जायें। इस प्रकार के विवाह में किसी प्रकार का सामाजिक संस्कार नहीं किया जाता और न ही कन्या-मूल्य दिया जाता है।
- **हठ-विवाह -** यह प्रथा भी, बिरहोर तथा ओराँव जनजातियों में पाई जाती है। ओराँव इसे 'निर्बोलोक' और 'हो' इसे 'अनादर' कहते हैं। 'अनादर' नाम ऐसे विवाह के सबसे उपयुक्त है। इस विवाह में लड़की अपने प्रेमी के घर उसके माता-पिता की बिना इच्छा के प्रवेश करती है और उन्हें अपने लड़के की शादी उससे करने को एक प्रकार से बाध्य करती है। इसमें प्रारम्भ में लड़की को ससुराल में अनेकों अत्याचार, अत्यधिक तथा अनादर सहना पड़ता है। इस कारण इसे 'अनादर' विवाह कहा जाता है। लड़की इस प्रकार का अपमानजनक और साहसपूर्ण कदम इस कारण उठाती है कि उसका प्रेम किसी युवक से हो

गया है, पर किसी कारण उनका विवाह नहीं हो पा रहा है और युवक भी सहपालन में असमर्थ है। ऐसी अवस्था में उस लड़की के लिए हठ-विवाह ही एकमात्र होता है।

12.8 जनजातीय समाज में पाये जाने वाले परिवार

प्रत्येक समाज में, चाहे आदिम हो या आधुनिक परिवार का होना आवश्यक है, क्योंकि बिना परिवार के समाज का अस्तित्व और निरन्तरता सम्भव नहीं। आदिम समाजों में परिवारों को महत्व और भी अधिक है, साथ ही साथ इनके समाज में परिवार के विभिन्न रूप देखने को मिलते हैं। भारतीय आदिम समाज में पाये जाने वाले परिवारों का संक्षिप्त विवरण निम्नलिखित है-

- **मूल या केन्द्रीय परिवार** - इस प्रकार के परिवार का प्राथमिक मूल या केन्द्रीय परिवार इस कारण चाहते हैं कि यह परिवार का सबसे छोटा और आधारित रूप है। इस प्रकार के परिवारों के सदस्यों की संख्या बहुत कम होती है और इसमें प्रायः एक विवाहित पति-पत्नी और उनके अविवाहित बच्चे ही आते हैं। भारत ही (हो) जनजाति में इस प्रकार का ही परिवार पाया जाता है।
- **विवाह-सम्बन्धी परिवार** - ऐसे परिवारों में विवाहित पति-पत्नी और उनके बच्चे तो होते ही हैं, साथ ही विवाह द्वारा बने हुए कुछ रिश्तेदार भी आ जाते हैं। भारत में (खरिया) जनजाति में ऐसे परिवार पाये जाते हैं।
- **संयुक्त परिवार** - संयुक्त परिवार के अर्न्तगत एक परिवार के अनेक नाते-रिश्तेदार एक साथ रहते हैं। डॉ. दुबे के अनुसार यदि कई मूल परिवार एक साथ रहते हों, और इनमें निकट का नाता हो, एक ही साथ भोजन करते हों और एक आर्थिक ईकाई के रूप में कार्य करते हों,

तो उन्हें उनके सम्मिलित रूप में संयुक्त परिवार कहा जा सकता है। इस प्रकार का परिवार भारतीय जनजातियों में अत्यन्त आवश्यक है।

- **एक-विवाही परिवार** - जब एक पुरुष एक स्त्री से विवाह करता है तो ऐसा विवाह से उत्पन्न परिवार को एक-विवाही परिवार कहते हैं। भारत की जनजातियों में ऐसे परिवारों की संख्या अधिक नहीं है। भारत में खस, संधाल और कादर जनजातियों में भी एक-विवाही परिवार पाये जाते हैं।
- **बहु-विवाही परिवार** - जब एक स्त्री अथवा पुरुष एक से अधिक स्त्रियों या पुरुषों से विवाह करते हैं, तो ऐसे विवाह से उत्पन्न परिवार को बहु-विवाही परिवार कहते हैं। इस प्रकार के परिवार के दो भेद होते हैं- (प) बहुपति-परिवार वह परिवार है जिसमें एक स्त्री एक से अधिक पुरुषों से विवाह करके घर बसाती है। उत्तर प्रदेश के जौरसार-बावर की खस जनजाति में ऐसे परिवार पाये जाते हैं। (पप) बहुपत्नी-विवाह वह परिवार है। ऐसे परिवार भारत की अधिकतर जनजातियों में पाये जाते हैं, विशेषकर नागा, गोंड, बैगा इत्यादि जनजातियों में। पारिवारिक सत्ता या अधिकार, वंश नाम और निवास के आधार पर भी परिवार के भेद किये जा सकते हैं।
- **मातृसत्तामक या मातृवंशीय** - इस प्रकार के परिवार में विवाह के बाद पति अपनी स्त्री के घर जाकर रहने लगता है, पारिवारिक सत्ता स्त्री की होती है और बच्चे अपने माता के कुल या वंश का नाम ग्रहण करते हैं। भारत में खासी, गारो आदि जनजातियों में इस प्रकार के परिवार उल्लेखनीय हैं।
- **पितृसत्तामक या पितृवंशीय परिवार** - ऐसे परिवारों में सत्ता या अधिकार पति या पिता के हाथ में होते हैं। बच्चे अपने पिता के कुल या वंश के नाम को ग्रहण करते हैं और विवाह

के बाद पत्नी अपने पति के घर जाकर रहती है। भारत की अधिकांश जनजातियों में पितृसत्तामक, पितृवंशीय या पितृस्थानीय परिवार पाये जाते हैं।

बोध प्रश्न-2

1. जनजातीय समाज में बहुपत्नी विवाह से आप क्या समझते हैं, चार पंक्तियों में लिखिए।

.....

.....

.....

.....

2. जनजातीय समाज में मातृसत्तामक या मातृवंशीय परिवार से आप क्या समझते हैं। चार बिन्दुओं द्वारा स्पष्ट कीजिए।

.....

.....

.....

.....

12.9 सारांश

जनजातियाँ भारतीय समाज व संस्कृति को निराली छवि प्रदान करती हैं। उनकी संस्कृति व रहन-सहन, खान-पान, वेशभूषा, पहनावा, शादी-विवाह, पार्टी, पूजा-पाठ, धर्मकृत्य, पारिवारिक कृत्य, विवाह के समय जीवनसाथी चुनने का तरीका आदि भारत के अन्य समाजों से भिन्न-भिन्न हैं। जनजातीय समाज में अन्तर्गत हमने जनजातीय समाज की विशेषता, जनजातीय समाज का वर्गीकरण भिन्न-भिन्न रूपों में व्यक्त किया है। भारतीय जनजातीय समाज में विवाह अहमियत क्या है। विवाह का तौर-तरीका एवं जीवनसाथी चुनने का तरीका अनोखा है जो भिन्न-भिन्न जनजातियों में देखा जाता है। जनजातीय समाज के विवाह के स्वरूपों को इस इकाई में स्पष्ट किया गया है। इस प्रकार विवाह से सम्बन्धित विभिन्न गतिविधियों को अभिव्यक्त किया गया है। भारतीय जनजातीय समाज में परिवार का महत्व तथा समाज में उनका स्थान व स्वरूपों का अध्ययन भी इस इकाई के अन्तर्गत किया गया है। इस प्रकार जनजातीय के सभी सकारात्मक पहलुओं को स्पष्ट तौर पर उजागर किया गया है जो जनजातीय समाज से अभिभूत कराता है।

12.10 परिभाषिक शब्दावली

- **मातृसत्तात्मक परिवार** - ऐसे परिवार में पति विवाहोपरान्त अपनी पत्नी के घर जाकर रहने लगता है और पारिवारिक सत्ता स्त्री के हाथ में होती है।
- **हठ विवाह**- अपने प्रेमी के घर जबरदस्ती उसके माता-पिता के इजाजत के बगैर प्रवेश कर लड़के को हठ कर विवाह करने का बाध्य करना हठ विवाह कहलाता है।
- **मंगोल**- पूर्वी कश्मीर, पूर्वी पंजाब, हिमाचल प्रदेश, उत्तर-प्रदेश, असम, सिक्किम आदि प्रदेशों में यह जातियाँ बसी हुई हैं।

12.11 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न-1

1. इस प्रश्न के उत्तर के लिए 12.3 बिन्दु को पढ़कर विस्तार से लिखिए जैसे- एकता की भावना, धर्म का महत्व, खान-पान, राजनैतिक संगठन आदि।
2. मध्यप्रदेश व छत्तीसगढ़।
3. खासी।
4. मैत्री सम्बंधों का।
5. उपर्युक्त सभी (गोड़, खड़िया, कादर)।

बोध प्रश्न-2

1. इस प्रश्न के उत्तर के लिए इकाई के 12.6 भाग को पढ़कर समझकर चार पंक्तियों में अपना उत्तर लिखिए।
2. इस प्रश्न के उत्तर के लिए इकाई के 12.8 भाग को पढ़कर समझकर चार पंक्तियों में इसका उत्तर लिखिए।

12.12 संदर्भ ग्रंथ सूची

जनजातीय भारत- नदीम हसनैन, जवाहर पब्लिशर्स एंड डिस्ट्रीब्यूटर्स।

सामाजिक मानवशास्त्र परिचय - डॉ. एन. मजुमदार, टी.एन. मदन, मयूर पेपरबॉल्स, नोएडा।

12.13 सहायक उपयोगी पाठ्य सामग्री

Social Anthropology – Dr. A.R.N. Srivastawa, शेखर प्रकाशन, इलाहाबाद।

Sociology of Tribal Society – G.K. Agarwal (SEPD)

Tribal India 1991- Palaka Prakashan, Delhi

12.14 निबंधात्मक प्रश्न

1. जनजातीय समाज का अर्थ स्पष्ट कीजिए एवं जनजातीय समाज में जीवन साथी चुनने के तरीकों का वर्णन कीजिए।
2. जनजातीय समाज की परिभाषा देते हुए जनजातीय समाज में पाये जाने वाले परिवारों के स्वरूपों का वर्णन कीजिए।

इकाई-13 ग्रामीण समाज: अर्थ, विशेषताएँ, परिवार एवं विवाह

Rural Society: Meaning, Characteristics, family and Marriage

इकाई की रूपरेखा

- 13.0 प्रस्तावना
- 13.1 उद्देश्य
- 13.2 ग्रामीण समाज का अर्थ व परिभाषाएँ
- 13.3 ग्रामीण समाज की विशेषताएँ एवं लक्षण
- 13.4 ग्रामीण समाज में परिवार एवं विवाह
- 13.5 ग्रामीण समाज व समुदाय को विकसित करने वाले सहायक कारकों का अध्ययन
- 13.6 वर्तमान समय में ग्रामीण समाज को विघटित करने वाले कारक
- 13.7 भारतीय ग्रामीण समाज का वर्तमान स्वरूप व भविष्य
- 13.8 सारांश
- 13.9 परिभाषिक शब्दावली
- 13.10 अभ्यास-प्रश्नों के उत्तर

 13.11 संदर्भ ग्रंथ सूची

13.12 सहायक उपयोगी पाठ्य सामग्री

13.13 निबंधात्मक प्रश्न

13.0 प्रस्तावना

सामान्यतः हम गाँव शब्द से अभिभूत होते हैं तब हमें पता चलता है कि गाँव का समाज एक ऐसा समाज होता है जहाँ अपेक्षाकृत अधिक समानता, अनौपचारिकता, प्राथमिक समूहों की प्रधानता, जनसंख्या का कम घनत्व तथा कृषि व्यवसाय की प्रधानता जैसी कुछ विशेषतायें मुख्य तौर पर देखी जाती हैं। गाँव का मुख्य पेशा कृषि होता है। वहाँ के लोगों का जीवन सरल व सादगीपूर्ण होता है। वे लोग सरल व सामान्य जीवन व्यतीत करते हैं। उनके आपसी संबंध प्राथमिक होते हैं। उनमें सामुदायिक भावना पाई जाती है। वे एक-दूसरे के लिए समर्पित रहते हैं। ग्रामीण समाज में आज भी जजमानी व्यवस्था पाई जाती है। गाँव के समाज को लघु परन्तु घनिष्ठ समुदाय माना जाता है। ग्रामीण समुदाय को विकसित करने के लिए कुछ महत्वपूर्ण कारक होते हैं जिनकी सहायता से गाँव का विकास तेजी से होता जाता है परन्तु वर्तमान परिदृश्य को यदि हम देखते हैं तो साफ जाहिर होता है कि कुछ ऐसे भी कारक हैं जो ग्रामीण समाज की जीवनशैली को विघटित करती है। इस प्रकार हम ग्रामीण समाज के अध्ययन के स्वरूप विभिन्न बिन्दुओं पर विचार करेंगे जो ग्रामीण समाज को प्रभावित करती है।

13.1 उद्देश्य

इस इकाई के अर्न्तगत हम ग्रामीण समाज के विभिन्न रूपों का अध्ययन करेंगे-

- ग्रामीण समाज का अर्थ व परिभाषायें स्पष्ट करेंगे।
- ग्रामीण समाज की विशेषताओं एवं लक्षणों को स्पष्ट करेंगे।
- ग्रामीण समाज में परिवार एवं विवाह के बारे में जानेंगे।
- ग्रामीण समाज व समुदाय को विकसित करने वाले सहायक कारकों का अध्ययन करेंगे।
- वर्तमान समय को ग्रामीण समाज को विघटित करने वाले कारक।
- भारतीय ग्रामीण समाज का वर्तमान स्वरूप व भविष्य क्या है।

13.2 ग्रामीण समाज का अर्थ व परिभाषायें

ग्रामीण समाज के अर्थ को स्पष्ट करते हुए हम कह सकते हैं कि सामान्य रूप से ग्रामीण समाज की संरचना तथा विकास के नियम किसी विशिष्ट ग्रामीण समाज का नियंत्रण एवं संचालन करने वाले असाधारण नियम को पता लगाने में सहायता प्रदान करता है। ग्रामीण समाज का मूलभूत कार्य ग्रामीण जीवन के विकास के नियमों की खोज करना है।

स्टूअर्ट चेपिन “इन्होंने ग्रामीण समाज को परिभाषित करते हुए कहा कि ग्रामीण जीवन को समाजशास्त्र ग्रामीण जनसंख्या, ग्रामीण सामाजिक संगठन और ग्रामीण समाज में काम करने वाली सामाजिक प्रक्रियाओं का अध्ययन करती है।”

सेण्डर सन “इन्होंने ग्रामीण समाज को परिभाषित करते हुए कहा है कि ग्रामीण समाज ग्रामीण पर्यावरण के जीवन का सामाजिक अध्ययन है।”

लारी नेल्सन “इन्होंने ग्रामीण समाज को परिभाषित करते हुए कहा है कि ग्रामीण समाज की विषय वस्तु ग्रामीण पर्यावरण में उन विभिन्न प्रकार की प्रगति का वर्णन विश्लेषण करना है जो उस पर्यावरण में विद्यमान होता है।”

उपरोक्त ग्रामीण समाज की अवधारणा अर्थ एवं परिभाषा को पढ़ने के उपरान्त इस भाग के अन्तर्गत यह जान गये होंगे कि ग्रामीण समाज ग्रामीण पर्यावरण जुड़े हुए अनेक मामलों, समस्याओं, तथ्यों व सामाजिक संबंधों का विस्तृत अध्ययन करता है। एक विज्ञान के रूप में ग्रामीण समाज गाँव के विभिन्न संगठनों, संस्थाओं, प्रक्रियाओं, आर्थिक, सामाजिक ढांचे का अध्ययन करता है जो गाँव के विकास कार्यक्रम व गाँव की उन्नति के लिए महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है।

13.3 ग्रामीण समाज की विशेषताएँ एवं लक्षण

1. कृषि ही मुख्य व्यवसाय है- यदि हम ग्रामीण समुदाय की परिभाषा की ओर ध्यान दें तो प्रतीत होगा कि ग्रामीण समुदाय का मुख्य आधार कृषि ही है। प्राकृतिक रूप से ग्रामीण समुदाय और कृषि बिना एक-दूसरे के ठीक वैसे ही अधूरे हैं जैसे-जीव बिना देहा कहने का तात्पर्य यह है कि ग्रामीण समुदाय का मुख्य आधार कृषि है।

2. जनसंख्या की समानता- ग्रामों में जनसंख्या का अभाव तथा व्यवसाय होने के नाते ग्रामों में निवास करने वाले व्यक्तियों में समानता पाई जाती है अथवा व्यवसाय, स्वभाव, रहन-सहन, आपसी संबंध और दिनचर्या आदि प्रायः एक सी हैं।

3. परिवार एक आधारभूत व नियंत्रण इकाई के रूप में- ग्रामों में परिवार ही सामाजिक जीवन की आधारभूत इकाई मानी जाती है अर्थात् ग्रामीण समुदाय में व्यक्ति को अधिक महत्व नहीं दिया

जाता है। व्यक्ति की सामाजिक प्रतिष्ठा अधिकांश रूप से उसके परिवार पर ही निर्भर करती है। यही एक कारण है कि ग्रामों के परिवार को ही अत्यधिक महत्व दिया जाता है।

4. संयुक्त परिवार प्रणाली- ग्रामों में प्रायः संयुक्त परिवार हैं। ऐसे परिवार हैं जिनमें संयुक्त संगठन के आधार पर अनेक संबंधों की एक ही सम्मिलित व्यवस्था होती है। परिवार का समस्त आय-व्यय उसके सभी सदस्यों की आय पर निर्भर करता है। परिवार का प्रत्येक कार्य खाना, पीना, रहना, खर्च आदि की भी सम्मिलित व्यवस्था होती है। संयुक्त परिवार 'सबके लिए एक और एक के लिए सब' के सिद्धान्त पर चलता है।

5. जजमानी प्रथा- ग्रामों में प्रत्येक जाति अपना परम्परागत पेशा करती आ रही है। इन पेशों को करने से इनकी सेवाओं द्वारा एक जाति का सम्पर्क दूसरी जाति से स्थापित हो जाता है। इसी प्रकार सभी जातियों का संबंध किसी न किसी जाति से निर्धारित है। इस प्रकार विभिन्न जातियों के पारस्परिक संबंध की एक अभिव्यक्ति जजमानी प्रथा है। प्रत्येक जाति के सदस्य के कुछ अपने जजमान होते हैं, जिन्हें वह पुश्तों से अपनी सेवा प्रदान करता चला आता है। जैसे-धोबी कपड़े धोने का, ब्राह्मण पुरोहित का कार्य करता है। जजमान इस प्रकार की सेवाओं के लिए अनाज, कपड़ा और नकद धन भी सेवा करने वालों को देते हैं।

6. सादा और शुद्ध जीवन- ग्राम का कृषक अपने श्रम द्वारा इतना ही कमा पाता है कि उसकी मुख्य आवश्यकताओं की पूर्ति में खर्च हो जाता है। इसके लिए आराम की वस्तुओं को उपयोग करना सपना बना रहता है। इसके लिए उसका जीवन सरल, सादा होता है। अतः उसमें छल-कपट की भावना नहीं होती और उसका जीवन शुद्ध होता है।

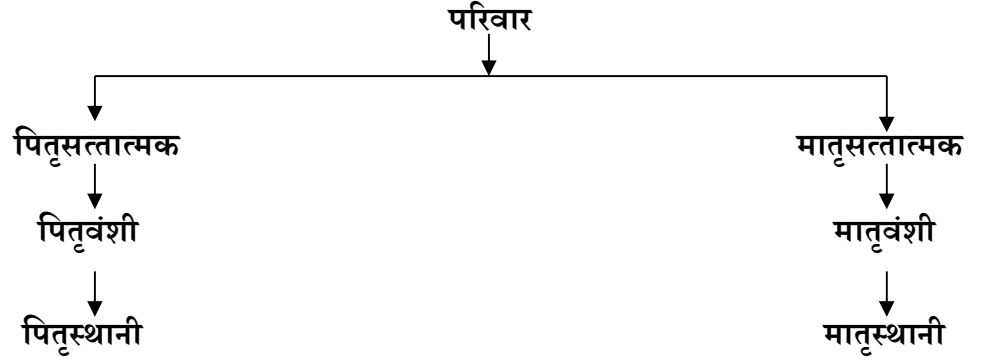
7. शान्तिपूर्ण स्थायी पारिवारिक जीवन- ग्रामों में प्रायः परम्परा, धर्म और जनमत के साथ-साथ नैतिक आदर्शों की कठोरता के कारण रोमांस का सर्वदा अभाव रहा है। वहाँ विवाह सामाजिक,

पारिवारिक और धार्मिक संस्कार मानकर किया जाता है। पत्नी बाहर न जाकर घर पर ही कार्य करती है और पति की सेवा करती है। यह परिवार की देख-रेख करती है। वैवाहिक संबंध स्थायी और शान्तिपूर्ण होने से पारिवारिक जीवन स्थायी और शान्तिपूर्ण बन जाता है।

8. स्त्रियों की निम्न दशा- ग्रामीण समाज में पर्दा प्रथा, बाल-विवाह पुरुषों द्वारा स्त्री को हेय समझना, परिवार का बोझ होना, रूढ़िवादिता का होना आदि परिस्थितियों के कारण स्त्रियों का स्तर निम्न होता है। स्त्रियां न केवल परिवार के समस्त निर्धारित कार्य ही करती हैं, बल्कि पुरुषों के साथ खेतों में भी कार्य करने जाती हैं। उन्हें पुरुषों से अधिक कार्य करना पड़ता है। अतः ग्रामीण जीवन में स्त्रियों की दशा अत्यन्त ही सोचनीय है।

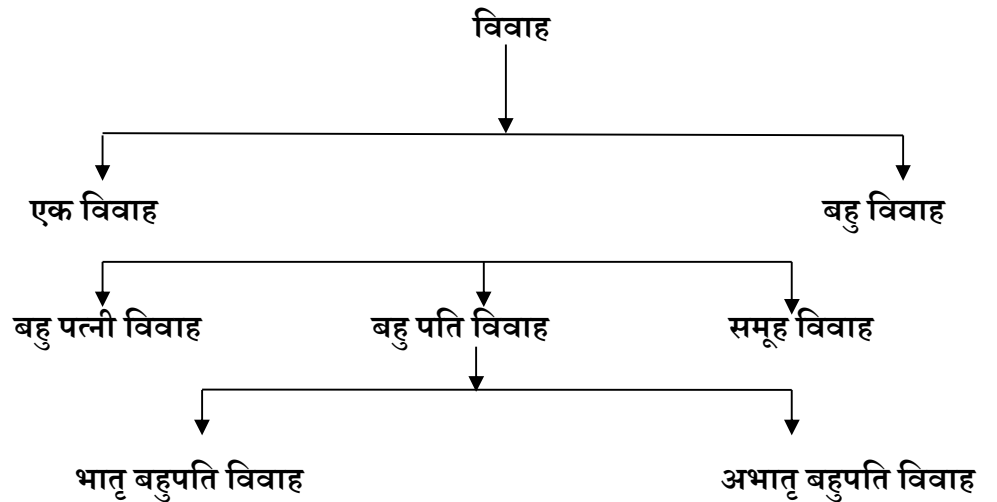
13.4 ग्रामीण समाज में परिवार एवं विवाह

परिवार के अर्न्तगत विभिन्न बिन्दुओं पर विचार करते हैं जैसे- ग्रामीण समाज में मुख्यतः परिवार में पति-पत्नी का संबंध मधुर व घनिष्ठ होता है। उनके आपसी संबंध स्नेहपूर्ण होते हैं। सामान्य निवास स्थान व घर होता है। दोनों परिवार रक्त संबंधों से बंधे होते हैं। वंश नाम की एक प्रणाली होती है। ग्रामीण परिवार के मुख्य विशेषताओं के रूप में कृषि कार्य उनका व्यवसाय होता है। ग्रामीण समाज का परिवार मुख्यतः संयुक्त होता है जहाँ माता-पिता, चाचा-चाची, दादा-दादी आदि के साथ ममेरे, फुफेरे भाई-बहन भी होते हैं। सभी सदस्य एक दूसरे से पारस्परिक रूप से जुड़े व निर्भर रहते हैं। परिवार के सभी सदस्यों में एकरूपता पाई जाती है। परिवार के मध्य अनुशासनबद्धता व नियंत्रण की शक्ति भी देखी जाती है। बड़े बुर्जगों का आदर-सम्मान किया जाता है। पारस्परिक सहयोग की भावना सभी सदस्यों में देखी जाती है। परिवार का अपना महत्व व प्रभाव होता है जो ग्रामीण समाज की विशिष्टता है।



ग्रामीण समाज में एक विवाही परिवार, बहु-पत्नी विवाही परिवार, बहु-विवाही परिवार, भार्तिक बहु-पति विवाही परिवार आदि भी देखने को मिलते हैं। ग्रामीण समाज अपने सभी कार्यों का वहन बखूबी करते हैं जैसे- प्राणीशास्त्रीय, जैविक कार्य, मनोवैज्ञानिक कार्य, वस्त्रों का प्रबंध, बच्चों का पालन-पोषण, भोजन का प्रबंध, शिक्षा की व्यवस्था, चिकित्सा सुविधा, शादी-विवाह, धार्मिक कार्य, कर्म-काण्ड, भोज-पाटी आदि की व्यवस्था से संबंधित कार्य परिवार के सदस्यों द्वारा किया जाता है।

विवाह ग्रामीण समाज में विवाह का खास महत्व है। विवाह का अनिवार्यता के रूप में लिया जाता है। विवाह का उद्देश्य मुख्यतः परिवार की स्थापना, सन्तोत्पत्ति, आर्थिक सहयोग, बच्चों का पालन-पोषण व मानसिक शान्ति को स्थापित करने के लिए किया जाता है। ग्रामीण समाज में अनुलोम व प्रतिलोम दोनों प्रकार के विवाह देखने को मिलते हैं।



विवाह की महत्ता ग्रामीण समाज में इसलिए है क्योंकि विवाह एक मौलिक सामाजिक संस्था है। विवाह समाज कल्याण के लिए अति महत्वपूर्ण है। विवाह द्वारा सामाजिक स्थिति सुदृढ़ होती है। विवाह समाज के सदस्यों को व्यवचार करने से बचाता है। विवाह समाज के अस्तित्व को बनाये रखता है तथा निश्चितता प्रदान करती है। विवाहोपरान्त समाज में व्यक्ति को शारीरिक व मानसिक संतोष प्राप्त होता है। इसी प्रकार ग्रामीण समाज की नातेदारी व्यवस्था की रीतियां एवं प्रथायें भी सम्पूर्ण ग्रामीण परिवेश को प्रभावित करती हैं।

13.5 ग्रामीण समाज व समुदाय को विकसित करने वाले सहायक

कारकों का अध्ययन

ईकाई के इस भाग में ग्रामीण समाज को विभिन्न सहायक कारकों द्वारा अध्ययन किया जा रहा है जो ग्रामीण समुदाय को विकसित करने में सहायक है-

1. **प्रादेशिक कारक:-** इसके अर्न्तगत प्रादेशिक अवस्थायें, प्राकृतिक उपज, भूमि की बनावट, भूमि का उपजाऊपन, पानी के साधन, पशुपालन की सरलता और जलवायु की दशायें आती हैं।
- ii) **प्राकृतिक अवस्था-** प्राकृतिक अवस्था के अनुकूल होने पर ही ग्रामीण समुदाय का जन्म एवं विकास सम्भव हो सका।
- iii) **भोजन-** भोजन मनुष्य की मूलभूत आवश्यकताओं में सर्वोपरि है। जहाँ भोजन की सुविधा है वहाँ ग्रामीण समुदायों का तीव्र गति से विकास होता है। पहाड़ी प्रदेशों की अपेक्षा मैदानी प्रदेश में ग्रामीण समुदाय के विकास का यही भोजन कारण है।

iv) **पशुपालन-** ग्रामीण ग्राम समुदाय का दायं हाथ है तो पशु बांया हाथ कहा जा सकता है। पशुओं का ग्रामीण समुदायों के लिए कम महत्व नहीं है। पशुओं की उपलब्धि का काफी प्रभाव पड़ता है। पहाड़ों की अपेक्षा मैदानों में पशुपालन की सरलता होती है।

v) **जलवायु-** जलवायु की अनुकूलता ग्राम समुदायों के स्वरूप को जन्म देती है तथा विकास में सहायता मिलती है। जिस ग्रामीण समुदाय की जलवायु जितनी उत्तम होगी उतनी ही वहाँ उपज अधिक होगी और उतने ही मनुष्य परिश्रमी होंगे।

2. **आर्थिक कारक:-** आर्थिक कारकों से तात्पर्य व्यवसाय व उद्योग-धन्धों से होता है। आर्थिक कारक निम्न प्रकार से कहे जा सकते हैं।

i) **अनाज की उत्पत्ति-** जिस ग्रामीण समुदाय में कम अनाज उत्पन्न होगा वह निर्यात नहीं कर सकता और न ही दूसरे उपभोग की वस्तुओं का आयात कर सकता है वरन् उसे अपने अनाज पर ही निर्भर रहना पड़ता है। इसके विपरीत यदि अनाज की उपज अत्यधिक होती है जो वह उसे निर्यात तथा अन्य वस्तुओं का आयात कर सकता है। धन संचय कर सकता है। पंजाब और पश्चिमी उत्तर प्रदेश के ग्रामीण समुदायों में गन्ना उत्पन्न कर निर्यात किया, अतः उन्नति हुई। मध्य भारत में यह सुविधा नहीं थी।

ii) **उपज में सुधार-** जहाँ कृषि में नवीन प्रणालियाँ अपनाई जाती हैं, उत्तम खाद, बीज आदि काम में लिये जाते तथा कृषि अनुसन्धान के अनुसार कृषि होती है वहाँ के ग्रामीण समुदाय विकसित होते हैं तथा ये सुविधायें जहाँ पैदा हो जाती हैं वहाँ पर ग्रामीण समुदायों का जन्म होता है।

iii) **कुटीर उद्योग-धन्धे-** कुटीर उद्योग-धन्धे ग्रामीण समुदायों की आर्थिक दशा की उन्नति कर ग्रामीण समुदायों का विकास करते हैं। अंग्रेजों के द्वारा भारत में कुटीर उद्योगों के विनाश से ग्राम

समुदाय प्रायः मृत हो गये तथा उनमें पुनः प्राण फूंकने के लिए सामुदायिक विकास योजना के अन्तर्गत कुटीर उद्योगों का विकास किया जा रहा है।

3. **सामाजिक कारक:-** सामाजिक कारक दो दृष्टिकोणों से देखे जाते हैं-

i) **बाह्य परिस्थिति-** सामाजिक कारकों के अन्तर्गत सामाजिक शान्ति, सुरक्षा और स्थिरता आते हैं। ये सभी ग्रामीण समुदायों के विकास में बड़ा योग देते हैं। हिन्दु और मुगल शासकों के काल में गुलाम, लोदी, खिलजी वंश के शासन के समय की अपेक्षा अधिक विकास हुआ क्योंकि गुलाम, लोदी, खिलजी वंश के शासकों के समय युद्ध, मार-काट, लूटमार का बोलबाला था। मुगल काल में शान्ति सुरक्षा और स्थिरता थी। राज्य के स्थायी स्वरूप से शान्ति, सुरक्षा और स्थिरता की भावनार्यें ग्राम समुदायों में वास्तविक सहायता देती हैं।

ii) **आन्तरिक परिस्थिति-** सामाजिक शान्ति, सुरक्षा और स्थिरता को बनाये रखने और ग्राम समुदायों के विकास के लिए आन्तरिक परिस्थितियाँ भी सहायक होती हैं। इनमें भूमि संबंध मुख्य है। एक समुदाय में भूमिहीन, अत्यन्त छोटे और असाधारण बड़े जमींदारों की उपस्थिति विभिन्न वर्गों में द्वेष और घृणा की सृष्टि करती है और इससे सामाजिक एकता को एक बड़ा धक्का लगता है।

बोध प्रश्न-1

1. जजमानी व्यवस्था किस समाज में पाई जाती है?

.....

.....

.....

2. संयुक्त परिवार प्रथा का प्रचलन ज्यादा कहाँ है?

.....

.....

.....

3. ग्रामीण समाज का मुख्य व्यवसाय क्या है?

.....

.....

.....

4. ग्रामीण समाज की लाक्षणिक विशेषताये क्या हैं?

.....

.....

.....

.....

5. इस समय भारत में गाँव की संख्या क्या है?

.....

13.6 वर्तमान समय में ग्रामीण समाज को विघटित करने वाले कारक

भारतीय ग्रामीण समुदाय एक लम्बे अर्से से सुसंगठित समुदाय रहा है। यह इतना शक्तिशाली समुदाय रहा है कि कुछ विद्वानों ने तो इसे गणराज्य तक कहा है। परन्तु भारत का यही ग्रामीण समुदाय, जो भूतकाल में गणराज्य कहा जाता था, अब इतना शक्तिशाली नहीं रहा, क्योंकि अब इसमें विघटनकारी तत्व प्रविष्ट हो गये हैं, जिसके कारण समुदाय का विघटन आरम्भ हो गया है। विघटन की यह प्रक्रिया वैसे तो बीसवीं शताब्दी के आरम्भ से ही चालू हो गई थी, परन्तु स्वतंत्रता प्राप्ति के उपरान्त से और भी अधिक तीव्र हो गई है। औद्योगिकरण एवं नगरीयकरण के फलस्वरूप ग्रामीण समुदाय का विघटन और भी तेज हो रहा है।

इस प्रकार निम्न बिन्दुओं द्वारा हम यह स्पष्ट करेंगे कि ग्रामीण समुदाय को विघटित करने में किन-किन कारकों का योगदान रहा है-

पंचायतों का पतन- प्राचीन काल से ही भारत में पंचायतों का महत्व रहा है। ग्रामीण स्तर के सभी झगड़ों का फैसला ग्राम की पंचायतें ही कर लेती थी, किन्तु ब्रिटिश शासन काल में दीवानी, फौजदारी तथा माल के मुकदमों के लिए अलग-अलग न्यायालय स्थापित हो जाने के कारण ग्रामों की पंचायतों का महत्व घट गया। अब ग्राम के निवासियों को नगरों से दूर स्थित न्यायालयों में जाकर वकीलों को फीस देकर न्याय प्राप्त करना होता था। यह व्यवस्था इतनी महंगी रही है कि केवल जमींदारों को ही इसमें लाभ पहुँच रहा है और शेष कृषक वर्ग का सदैव शोषण होता रहा है। ऐसी दशा में ग्रामों का विघटित होना स्वाभाविक ही था।

नवीन राजनीतिक परिस्थितियाँ- स्वतंत्रता प्राप्ति के उपरान्त समुदाय नवीन राजनीतिक परिस्थितियों के साथ अनुकूलन न कर सका। ग्रामीण समुदाय के लोगों में शिक्षा का अभाव सदा ही

रहा है। वे प्रजातन्त्रात्मक शासन प्रणाली के सिद्धान्तों को नहीं समझ पाये। वे मताधिकार का प्रयोग सही ढंग से न कर पाये। अतएव नवीन राजनीतिक परिस्थितियों में ग्रामीण समाज का विघटन अनिवार्य हो गया है।

ग्रामीण उद्योग-धन्धों का पतन- भारत का ग्रामीण समुदाय आर्थिक दृष्टि से आत्मनिर्भर समुदाय था। वहाँ के निवासियों के पास अपनी जीविका कमाने के लिए छोटे-छोटे धन्धे थे। कपड़ा बुनना, रंगना, सूत काटना, टोकरी बनाना आदि छोटे कार्य करके वे अपनी जीविका कमाते थे किन्तु ब्रिटिश शासन काल में कारखाने चलने के कारण इन उद्योग धन्धों का पतन हो गया और ग्रामीण समुदाय के निवासियों को अपनी जीविका खोजने में नगरों में शरण लेनी पड़ती थी जिससे ग्रामीण समाज का पारिवारिक विघटन आरम्भ हुआ।

औद्योगीकरण- आधुनिक युग में कल-कारखानों के बढ़ जाने से नगरों का विकास हो गया। उद्योग-धन्धों का विकास होने लगा और ग्रामीण निवासियों को नगरों की ओर मजदूरी करने के लिए जाना पड़ा। ग्रामों के उद्योग-धन्धों का पतन होने से ग्रामों में बेकारी फैल गई। नगरों की जनसंख्या बढ़ी और साथ ही साथ नगरों में वेश्यावृत्ति, जुआ, मद्यपान आदि में वृद्धि हो गई, जिससे व्यक्ति विघटन भी अपनी चरम सीमा पर पहुँच गया।

भूमिहीन मजदूर कृषक- जमींदारी प्रथा के कारण ग्रामीण समाज में जिन लोगों की संख्या बढ़ी जिनके पास जमीनें नहीं थी और जो जमींदारों के आश्रित होकर कृषि का कार्य करते थे, किन्तु कृषक का सभी कार्य प्रकृति की कृपा पर निर्भर है। ओला, अतिवृष्टि, अनावृष्टि आदि के कारण जो संकट उपस्थित होते हैं, उनका उपचार ग्रामीण समुदाय के पास नहीं होता है। ऐसी परिस्थितियों में ग्रामीण समुदाय परिवार विघटित हो जाते हैं।

जनसंख्या में वृद्धि- भारतीय ग्रामीण समुदायों में जनसंख्या की भी वृद्धि हुई। इस बढ़ी हुई जनसंख्या का भरण-पोषण करने में ग्रामीण समुदाय की भूमि असमर्थ रही है। इसलिए ग्रामीण समाज में बेकारी, निर्धनता फैलने लगी। इन्हीं के फलस्वरूप ग्रामों में चोरी, डकैती होने लगी और ग्रामीण समाज विघटित होने लगे।

जातिवाद- भारत के ग्रामों में जातीयता का अधिक प्रभाव है। जातिवाद के कारण एक जाति का व्यक्ति दूसरी जाति के व्यक्ति से घृणा करता है। इस पारस्परिक घृणा के कारण भारत में ग्रामीण समाज का विघटन हुआ है।

बेकारी व निर्धनता- लघु उद्योग-धन्धों का पतन हो जाने के कारण ग्रामीण समाज में बेकारी और निर्धनता के कारण ग्रामीण समुदाय के व्यक्ति को रोजगार की तलाश में इधर से उधर भटकना पड़ता है। इसके कारण भी ग्रामीण समाज का विघटन हो रहा है।

राजनीतिक भ्रष्टाचार- ग्रामीण समाज में व्यक्ति निर्धन व अशिक्षित होते हैं। निर्वाचन के समय राजनीतिक दलों के नेता ग्रामीण जनता को बहका देते हैं और उनके मतों को खरीद लेते हैं। इस राजनीतिक भ्रष्टाचार के कारण भी ग्रामीण समुदाय का विघटन हुआ है।

अपराधों में वृद्धि- आधुनिक युग में अनेकों कारणों से अपराधों में वृद्धि हुई है। ग्रामों में यातायात के साधनों का अभाव रहता है। अतएव पुलिस को वहाँ पहुँचने में भी समय लगता है। इसलिए अपराधियों को अपराध करके भागने में भी सुविधा होती है। अपराधों की संख्या में वृद्धि होने के कारण कुछ लोगों ने सुरक्षा प्राप्त करने के लिए ग्राम छोड़कर नगरों में निवास स्थान बना लिया है।

नगरीकरण तथा स्थानान्तरण- औद्योगीकरण के कारण भारत में नगरों का विकास हुआ है। ग्रामों के उद्योग-धन्धों का पतन हो जाने के कारण ग्राम के लोग शहरों में बसने लगे हैं। नगरों की संख्या की

वृद्धि को नगरीकरण और जनसंख्या के इधर-उधर जाने को स्थानान्तरण कहते हैं। इस कारण भी ग्रामीण समाज का विघटन हो रहा है।

13.7 भारतीय ग्रामीण समाज का वर्तमान स्वरूप व भविष्य

आज का वर्तमान परिवेश आधुनिकता को लिये हुए है। ग्रामीणीकरण की प्रवृत्ति धीरे-धीरे समाप्त होती जा रही है और नगरीकरण का वातावरण उत्पन्न हो रहा है। एक समय में भारत को गाँव का देश कहा जाता था परन्तु आज नगरों का विकास तेजी से होता जा रहा है और गाँव धीरे-धीरे विलुप्त होते जा रहे हैं। गाँव की संस्कृति में सरलता, प्राथमिकता, अनौपचारिक संबंध, समर्पण की भावना, सहयोगात्मक प्रवृत्ति, नैतिकता का पतन, अनुशासनहीनता, नियंत्रण शक्ति का अभाव, माता-पिता का आदर-सम्मान आदि समाप्त होता जा रहा है।

आज ग्रामीण समाज में शिक्षा के प्रभाव से काफी परिवर्तन देखने को मिलता है। गाँव में पक्के मकानों का निर्माण, तकनीकी तरीके से कृषि का विकास, पर्दा-प्रथा का अन्त, शिक्षा की अनिवार्यता, स्त्रियों को स्वतंत्रता, जजमानी प्रथा का अन्त, संयुक्त परिवार का विघटन, कर्म की प्रधानता, भाग्यवादिता का महत्व कम होना, जाति प्रथा का अन्त एवं पुत्र जन्म की प्रधानता समाप्त होती जा रही है। आज गाँव में भी पक्की सड़क, बिजली, यातायात की सुविधायें, संचार व्यवस्था, महिलाओं के लिए शिक्षा की अनिवार्यता आदि ग्रामीण परिवेश को परिवर्तित कर रही है। आज उत्तराखण्ड के कई गाँव को यदि हम देखते हैं तो पता चलता है कि वहाँ के लोगों का रहन-सहन, खान-पान, पहनावा, बोलचाल, तौर-तरीके आदि शिक्षा की वजह से काफी बदल गया है। दूर गाँव से बच्चे भी उच्च शिक्षा हासिल करने के लिए नजदीक के शहरों में महाविद्यालयों में आते-जाते देखे जा रहे हैं।

आज गाँव के परिवर्तित दृश्यों को देखकर हम यह अनुमान लगाते हैं कि गाँव का प्राचीनतम स्वरूप परिवर्तित होकर आधुनिक संस्कृति में समाहित होता जा रहा है। नगरीकरण का प्रभाव शिक्षा के द्वारा ग्रामीणों पर तेजी से पड़ रहा है। ग्रामीण नगरीय प्रवास में तेजी से वृद्धि हो रही है। इस प्रकार भारतीय ग्रामीण समाज के भविष्य की यदि हम बात करते हैं तो सम्भवतः आधुनिकता के इस युग में गाँव का विकास दिन-प्रतिदिन तेजी से होता जा रहा है जिसे हम Rural Development and Modernization भी कहते हैं और आधुनिक ग्रामीण परिवर्तनों को देखकर यह कह सकते हैं कि वर्तमान समय में गाँव का भविष्य उज्ज्वल होता नजर आ रहा है।

बोध प्रश्न-2

1. ग्रामीण समाज का अर्थ स्पष्ट कीजिए एवं इसकी परिभाषायें लिखिए।

.....

.....

.....

.....

2. ग्रामीण समाज की चार विशेषतायें लिखिए।

.....

.....

3. ग्रामीण समाज के परिवार के संदर्भ में पांच पंक्तियाँ लिखिए।

13.8 सारांश

ग्रामीण समाज की जहाँ तक हम बात करते हैं तो पता चलता है कि जहाँ गाँवों का एक समुदाय, गाँव की संस्कृति, सरल जीवन, प्राथमिक संबंध, कृषि मुख्य व्यवसाय, सहयोग की भावना, कर्मठता, आदर भाव, नैतिक विचारधारा आदि देखने को मिलती है वह ग्रामीण समाज है। ग्रामीण समाज के लोग विभिन्न लक्ष्यों की पूर्ति करते हुए एक निश्चित क्षेत्र में निवास करते हैं। उनकी अपनी खास विशेषता होती है। कृषि उनका मुख्य व्यवसाय होता है। जनसंख्या का घनत्व कम होता है। वे प्रकृति के करीब होते हैं। निश्छलता से ओतप्रोत उनका स्वभाव होता है। ग्रामीण समाज का परिवार एक नियंत्रण ईकाई के रूप में कार्य करता है। गाँव में अधिकांशतः संयुक्त परिवार प्रणाली पाई जाती है। समाज में जाति के आधार पर सामाजिक व्यवस्थाओं का निर्धारण किया गया है। जजमानी प्रथा का प्रचलन आज भी कई गाँव में प्रचलित है। ग्रामीण समाज का सम्पर्क बाहरी दुनिया से कम होता है। ग्रामीणों का जीवन सादा व शुद्ध होता है। गाँव में सभी एक दूसरे को चाचा, काका, दादा, भईया,

दीदी, दादी कहकर पुकारते हैं। गाँव का पारिवारिक जीवन नगरों की अपेक्षा शान्तिपूर्ण व स्थायी होता है। ग्रामीण समाज में स्त्रियों के बीच पर्दा-प्रथा, लज्जा, आदर-भाव आदि देखने को मिलता है। ग्रामीण समाज को विकसित करने के कई ऐसे कारक हैं जो गाँव के विकास में बढ़ावा देते हैं परन्तु कुछ ऐसे भी तत्व व कारक हैं जो ग्रामीण समाज को विघटित कर रहे हैं।

इस प्रकार ग्रामीण समाज के विभिन्न बिन्दुओं पर जब आप अध्ययन करेंगे तो स्पष्ट हो जायेगा कि भारत जो कि एक कृषि प्रधान देश है। भारतीय समाज का वर्तमान परिदृश्य क्या है और क्या ग्रामीण समाज का भविष्य उज्ज्वल है? इसे जान पायेंगे।

13.9 परिभाषिक शब्दावली

अनुलोम विवाह- उच्च जाति के लड़कों का निम्न जाति की लड़की के साथ विवाह को अनुलोम विवाह कहते हैं।

पितृवंशीय परिवार- जिस परिवार में वंश परम्परा पिता से चलती है और पिता के वंश का ही महत्व होता है तो वह पितृवंशीय परिवार कहलाता है।

ग्रामीण समाज- जिसका एक निश्चित भौगोलिक क्षेत्र होता है। जहाँ गाँव के लोग निवास करते हैं, उनका मुख्य पेशा कृषि होता है। वे सामान्य व सरल जीवन व्यतीत करते हैं तथा आपस में सामुदायिक एकता की भावना पाई जाती है, वह ग्रामीण समाज है।

13.10 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न-1

1. ग्रामीण समाज में।

2. गाँव में
3. कृषि मुख्य व्यवसाय।
4. छोटा आकार, कृषि मुख्य व्यवसाय, स्थिर जीवन।
5. 5, 93, 643

बोध प्रश्न-2

1. इस प्रश्न का उत्तर इकाई के 13.2 भाग को पढ़कर समझकर स्पष्ट लिखिए।
2. इस प्रश्न का उत्तर इकाई के 13.3 भाग को पढ़कर समझकर किन्हीं चार विशेषताओं को लिखिए।
3. इस प्रश्न का उत्तर इकाई के 13.4 भाग को पढ़कर परिवार के बिन्दुओं पर प्रकाश डालते हुए लिखिए।

13.11 संदर्भ ग्रंथ सूची

भारतीय समाज व संस्कृति- रविन्द्र नाथ मुकर्जी (विवेक प्रकाशन)।

ग्रामीण समाजशास्त्र - जी.के. अग्रवाल (विवेक प्रकाशन)।

यूनीफाइड समाजशास्त्र- रविन्द्र नाथ मुकर्जी, भरत अग्रवाल (विवेक प्रकाशन)

13.12 सहायक उपयोगी पाठ्य सामग्री

Social Work - G.R. Madan (Vivek Prakashan)

Rural Sociology – V.N. Singh (Vivek Prakashan)

13.13 निबंधात्मक प्रश्न

1. वर्तमान में ग्रामीण समाज को विघटित करने वाले कारकों का वर्णन कीजिए।
2. ग्रामीण समाज को विकसित करने वाले कारकों का वर्णन कीजिए।

**इकाई-14 नगरीय समाज: अर्थ, विशेषताएँ
एवं समस्याएँ**

**Urban Society: Meaning, Characteristics
and Problems**

इकाई की रूपरेखा

- 14.0 प्रस्तावना
- 14.1 उद्देश्य
- 14.2 नगरीय समाज की जीवनशैली, अर्थ एवं परिभाषायें
- 14.3 नगरीय समाज की विशेषतायें एवं लक्षण
- 14.4 नगरीय समाज का ग्रामीण समाज के साथ तुलनात्मक अध्ययन
- 14.5 नगरीय समाज की कुछ समस्यायें
- 14.6 सारांश
- 14.7 परिभाषिक शब्दावली
- 14.8 अभ्यास-प्रश्नों के उत्तर
- 14.9 संदर्भ ग्रंथ सूची
- 14.10 सहायक उपयोगी पाठ्य सामग्री
- 14.11 निबंधात्मक प्रश्न

14.0 प्रस्तावना

नगरीय समाज के अन्तर्गत हम नगर की जीवनशैली, विशेषतायें, विकास कार्य शिक्षा, परिवार आदि का वर्णन करते हैं। नगरीय समाज की आधुनिकता ने सम्पूर्ण सामाजिक परिदृश्य को परिवर्तित किया है। नगर विकास का केन्द्र स्थल है। यहाँ लोगों को शिक्षा, व्यवसाय, तकनीकी, मनोरंजन, व्यापार, चिकित्सा सुविधा सभी आसानी से उपलब्ध हो जाते हैं। नगर के विकास के लिए नगरीय योजना के द्वारा कई कार्य किये जाते हैं। नगरीय समुदाय नगर की विशेषताओं से जाना जाता है। नगरीय जीवन एक पद्धति है। नगरीय समुदाय ग्रामीण समुदाय की तुलना में घना बसा हुआ है। नगर में सामूहिक जीवन की अपेक्षा वैयक्तिक जीवन की मूल्यों को अधिक मान्यता प्रदान की गई है। नगरीय समाज का व्यक्ति परम्परागत ढांचे से अलग-थलग होकर अपनी जिन्दगी जीता है। नगरीय समाज भीड़-भाड़ युक्त होता है जहाँ भावनाओं की कोई कदर नहीं होती है। स्वार्थ को पूरा करने के लिए लोग सम्बन्धों को अहमियत देते हैं। नगरीय समाज औपचारिकता पूर्ण होता है। स्वार्थ और औपचारिकता से सराबोर नगरीय संबंध कभी भी घनिष्ठ व स्थायित्व पूर्ण नहीं होते हैं। नगर का वातावरण कई कठिनाईयों व समस्याओं से जहाँ जुड़ा होता है वहीं उन समस्याओं के समाधान के लिए कानूनी व संवैधानिक प्रावधान भी उपलब्ध होते हैं। सुरक्षा के लिए पुलिस, कोर्ट, कचहरी व न्यायालय भी उपलब्ध हैं।

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि नगरीय समाज की परिपाटी आधुनिकता की देन है। आज हम आधुनिक युग में जी रहे हैं जहाँ का समाज हमें वर्तमान परिदृश्यों से परिचित कराता है और हम विभिन्न प्रकार की भाषा, संस्कृति, कला, शिक्षा से परिचित होते रहते हैं जो आधुनिकता एवं परिवर्तनशीलता का स्रोत है।

14.1 उद्देश्य

इस ईकाई के अन्तर्गत हम

- नगरीय समाज की जीवनशैली तथा अर्थ एवं परिभाषा से अवगत होंगे।
- नगरीय समाज की विशेषता एवं लक्षण को स्पष्ट करेंगे।
- नगरीय समाज का ग्रामीण समाज के साथ तुलनात्मक अध्ययन करेंगे।
- नगरीय समाज की कुछ समस्याओं के बारे में जानेंगे।

14.2 नगरीय समाज की जीवनशैली अर्थ एवं परिभाषायें

नगरीय समाज ग्रामीण समुदाय की तरह ही छोटे-छोटे समुदायों से मिलकर बना है। नगरीय समाज के अन्तर्गत हम विभिन्न नगरीय समुदायों का निर्माण करते हैं व संगठन बनाते हैं जिसके माध्यम से नगरीय समाज के विभिन्न कार्यों में एक पूर्ण रूप दिया जाता है जो नगरीय समाज के विकास के लिए आवश्यक है। नगरीय समाज के लोगों के बीच प्राथमिकता कम बल्कि द्वैतीयक संबंध जो विभिन्न औपचारिकता को पूरा करते हैं वो पाये जाते हैं। नगरीय समाज में मानव के व्यक्तित्व का विकास तेजी से आधुनिकता की ओर होता है। नगर मुख्यतः विकास व प्रगति का केन्द्र स्थल है। यहाँ विभिन्न प्रकार के शोध व अनुसंधानों द्वारा विकासात्मक कार्य किये जाते हैं जिससे समाज व व्यक्तित्व दोनों को फायदा होता है। नगरीय समाज की सुख-सुविधाओं की वजह से मानव जीवन भी सुव्यवस्थित व प्रगतिपूर्ण हो जाता है।

नगरीय समाज को कुछ विद्वानों ने अपने शब्दों में परिभाषित किया है, जैसे-

लौरी नेल्सन ने नगरीय समाज समाज को परिभाषित करते हुए यह कहा है कि “नगरीय समाज नगरीय पर्यावरण में व्यक्तियों के साथ नगरीय समूहों के पारस्परिक संबंधों का अध्ययन है।”

एगोन अरनेस्ट बर्गल ने अपनी कृति Urban Sociology में लिखा है “कि नगरीय समाज सामाजिक कार्यों, सामाजिक संबंधों, सामाजिक संस्थाओं और नगरीय जीवन ढंगों पर आधारित सभ्यता के प्रकारों पर नगरीय जीवन के प्रभावों का अध्ययन करता है।”

एण्डरसन ने “नगरीय समाज को मात्र नगर तक ही सीमित न रखकर कस्बों को भी शामिल किया है, जहाँ नगरीकरण की प्रक्रिया को जीवन पद्धति के संदर्भ में विकसित होते हुए देखा जा सकता है। नगरीय समाज में लोगों के मध्य पारस्परिक संबंधों के प्रतिमानों का स्वरूप भी द्वैतीयक होता है। नगरीय समाज के लोगों में व्यक्ति प्रखरता अधिक पायी जाती है।”

लुईस बर्थ ने “नगरीय समाज व नगरवाद को एक विशेष प्रकार की जीवन पद्धति कहते हैं। नगरीय समाज का विशाल रूप ही नगरीकरण की प्रक्रिया हो आगे बढ़ाते हुए आधुनिकता को प्रोत्साहित करती है।”

14.3 नगरीय समाज की विशेषताएं एवं लक्षण

नगरीय समाज के अर्न्तगत सामाजिक विजातीयता की भावना पाई जाती है। गाँव में सांस्कृतिक एकता की भावना पाई जाती है तो नगरों में अनेक संस्कृतियाँ और प्रजातियों के लोग पाये जाते हैं। गाँव प्राचीन संस्कृति को बनाये रखते है तो नगर अनेकों संस्कृतियों की संस्थाओं, विचारों, आदर्शों आदि के सम्मेलन से संस्कृति का विकास करते हैं और उनमें परिवर्तन उत्पन्न होता है। नगर के समाज में सैकड़ों व्यवसायों, व्यापारों, जातियों और विचारधाराओं के लोग बसते हैं।

- नगरीय समाज में माध्यमिक नियंत्रण की प्रक्रिया पाई जाती है। नगरों में बहुत से माध्यमिक समूह होते हैं। अतः माध्यमिक नियंत्रण ही नगरीय समाज को सुव्यवस्थित करने में प्रबल होता है। परिवार, जाति, बिरादरी को कोई भय नहीं होता। कानून, जेल और पुलिस का भय लोगों के व्यवहारों को नियंत्रित करता है।
- नगरीय औद्योगिक समाज की सबसे बड़ी विशेषता उसकी सामाजिक गतिशीलता है। नगर में व्यक्ति की सामाजिक स्थिति उसके जन्म से नहीं बल्कि उसके कर्मों और आर्थिक स्थिति से निश्चित होती है। हर व्यक्ति अपने परिश्रम, बुद्धि, बल के आधार पर समाज में ऊँचे से ऊँचा स्थान प्राप्त कर सकता है। वहाँ जाति-पाति का बंधन नहीं है। अन्तर्जाति विवाहों की बहुलता है। स्त्री शिक्षा सर्वोपरि है। विकास के सभी स्थल खुले हैं।
- नगर में व्यवसाय, वर्ग, धर्म, संस्कृति आदि की इतनी विविधता के कारण वहाँ ऐच्छिक समितियाँ अधिक पाई जाती हैं। परिवार जैसे प्राथमिक समूह तक में स्वेच्छा की प्रवर्तियों पाई जाती हैं।

ऐच्छिक समितियाँ तथा माध्यमिक नियंत्रण आदि अनेक कारणों से नगरवासियों में वैयक्तिकता विकसित हो जाती है। शहर के व्यक्ति पर आचार-विचार के संबंध परम्पराओं का नियंत्रण उठ जाता है। वह अपने अनुकूल तौर-तरीके और आदर्श को निश्चित करता है। इससे जहाँ उसके व्यवहार में उच्च श्रृंखलता आती है वहाँ उसके व्यक्तित्व का भी विकास होता है।

- नगर में गाँवों के समान सामुदायिक भावना दिखाई नहीं पड़ती, वहाँ ना लोक निन्दा का भय होता है और पास-पड़ोस का ख्याल, सब अपने-अपने कामों में व्यस्त रहते हैं, किसी को किसी के लिए समय नहीं होता है।

- नगरीय समाज में अपराधों की बहुलता देखी जाती है। वहाँ के समाजों में चोरियां, खून, व्यभिचार, भ्रूण हत्या, भ्रष्टाचार, बाल अपराध, वैश्यावृत्ति, जालसाझी, डकैती, हत्या आदि विभिन्न प्रकार के अपराध पनपते रहते हैं।
- सामुदायिक भावना और पारिवारिक एकता के अभाव तथा पाश्चात्य संस्कृति के प्रभाव से भोग विलास के वातावरण के कारण नगरीय समाज में चरित्र और नैतिकता में शिथिलता दिखाई पड़ती है। नगर की भीड़भाड़ में समाज अथवा परिवार का नियंत्रण नहीं समझा जाता।

नगरीय समाज में समाज अव्यवस्थित होने के कारण और अपराधिक प्रवृत्तियाँ उत्पन्न होने के कारण सामाजिक विघटन की स्थिति पैदा होती है। इन सब कारणों से नगरीय समाज में असन्तोष व अशान्ति फैलती है। प्रत्यक्ष व अप्रत्यक्ष रूप से संघर्ष चलते रहते हैं। वर्गवादी भावनायें प्रबल होती हैं। हस्ताल, दंगे, फसाद होते रहते हैं। सम्प्रदायिकता, दलबन्धी, व्यक्तिवादिता आदि की स्थितियाँ पैदा होती रहती हैं और व्यक्ति और समाजों के संबंधों में सामंजस्य दिखाई नहीं पड़ता है।

बोध प्रश्न-1

1. नगरीय जीवन अत्यधिक जटिल होता है इसे क्या कहेंगे।

.....

.....

.....

.....

2. व्यक्ति प्रकृति से दूर होता गया यह किस बात का सूचक है।

.....

.....

.....

.....

3. नगर व्यक्ति की विभिन्न इच्छाओं की पूर्ति का केन्द्र होता है, ये किसका द्योतक है।

.....

.....

.....

.....

.....

4. नगर के उत्थान एवं पतन की छः अवस्थायें होती हैं, किसने कहा।

.....

.....

.....

.....

.....

5. किसने कहा है कि नगरों का विकास धातु युग में हुआ है।

.....

.....

14.4 नगरीय समाज का ग्रामीण समाज के साथ तुलनात्मक

अध्ययन

उपरोक्त बातों से आप जान गए होंगे कि नगरीय समाज में किन-किन बातों का अध्ययन करते हैं। नगरीय समाज की प्रवृत्ति ग्रामीण समाज के साथ कौन सी भिन्नताओं को लिये हुए होता है, इसका अध्ययन हम निम्नलिखित बिन्दुओं द्वारा स्पष्ट करेंगे।

1. जनसंख्या की प्रकृति के दृष्टिकोण से ग्रामीण समाज का आकार काफी छोटा होता है। जनसंख्या का घनत्व कम होता है। ग्रामीण समूहों द्वारा एक-दूसरे से हट कर अपने लिए आवासों का निर्माण करना होता है। ग्रामीणों की जीवनशैली, रहन-सहन, आय से स्तर तथा मनोवृत्तियों में काफी समानता होने के कारण गाँव में एक ऐसा समाज विकसित होता है जिसे हम समरूप समाज के नाम से जानते हैं।

ग्रामीण समाज की तुलना में नगरीय समाज का आकार बड़ा होता है। भारत में इस समय नगरों की 15 करोड़ से भी अधिक आबादी उन नगरों में रहती है जिसमें से प्रत्येक की जनसंख्या 1 लाख से भी अधिक है। जनसंख्या की विभिन्नता नगरीय समाज का एक अन्य लक्षण है। यहाँ विभिन्न धर्मों, जातियों, वर्गों, मनोवृत्तियों और व्यवसायों के लोग साथ-साथ रहते हैं। इसलिए उनकी जीवनशैली में कोई समानता देखने को नहीं मिलती।

2. सामाजिक संरचना के दृष्टिकोण से परिवार, नातेदारी, धर्म, अर्थव्यवस्था, शिक्षा और सामाजिक मूल्यों का ग्रामीण समाज में प्रमुख स्थान दिया गया है। ग्रामीण समाज की सामाजिक संरचना का

निर्माण करने वाली सबसे छोटी ईकाई रखती है। उनकी सामाजिक प्रस्थिति परिवार और नातेदारी के अनुसार निर्धारित होती है। यही कारण है कि गाँव में विवाह को भी दो व्यक्तियों का संबंध न मानकर दो परिवारों का संबंध मानते हैं।

नगरीय समाज में सामाजिक संरचना से सम्बन्धित कई भिन्नतायें देखने को मिलती हैं। व्यक्ति के जीवन में परिवार व नातेदारी का अधिक महत्व नहीं होता। धर्म को एक प्रमुख सामाजिक मूल्य के रूप में नहीं देखा जाता। मूल्यों का प्रभाव कम होता है। नगरीय समाज की सामाजिक संरचना अनेक उच्च, मध्यम और निम्न वर्गों में विभाजित होती है और इन सभी वर्गों में स्वार्थ एक दूसरे से भिन्न होते हैं।

3. सामाजिक स्तरीकरण के आधार पर ग्रामीण समाज के लक्षण यह है कि व्यक्ति की सामाजिक की प्रस्थिति का निर्धारण परिवार, नातेदारी तथा जाति के आधार पर होता है। इसे वह अर्जित नहीं करते बल्कि उन्हें प्रदान की जाती है। इसे हम प्रदत्त प्रस्थिति कहते हैं। जिन ग्रामीणों के पास कृषि भूमि अधिक होती है साधारणतया उन्हें अधिक प्रतिष्ठा व शक्ति प्राप्त हो जाती है और नेतृत्व करने का अधिकार भी उन्हें प्रदान हो जाता है।

नगरीय समाज का स्तरीकरण खुली व्यवस्था के आधार पर होता है। यहाँ व्यक्ति की प्रस्थिति और प्रतिष्ठा का निर्धारण जाति अथवा जन्म के आधार पर नहीं होता। शिक्षा, आर्थिक सफलता, राजनीतिक शक्ति, सामाजिक सहभागिता और व्यवसाय की प्रकृति वे कसौटियाँ हैं जिनके आधार पर नगरीय समाज में व्यक्तियों को विभिन्न अधिकार और सुविधायें प्राप्त हो जाती है।

4. व्यवसाय की प्रकृति द्वारा अधिकांश ग्रामीण छोटे-मोटे व्यवसाय को करते हैं। कृषि उत्पादन के लिए अपनी भूमि को खुद जोतते हैं। ग्रामीण समाज का छोटा वर्ग कुटीर उद्योग, पशुपालन तथा

दस्तकारी द्वारा जीवन उपार्जित करता है। व्यवसायिक जीवन में पुरुषों और स्त्रियों की समान सहभागिता देखने को मिलती है।

नगरीय समाज व्यवसायिक रूप से विभिन्नता युक्त है। यहाँ हजारों तरह से व्यवसाय लोगों की आजीविका के साधन होते हैं। व्यवसाय का उद्देश्य केवल अपनी उपभोग की आवश्यकताओं को पूरा करना ही नहीं होता बल्कि सम्पत्ति का संचय करना भी होता है। इस प्रकार नगरीय और ग्रामीण समाज की व्यवसायिक प्रकृति भिन्न-भिन्न होती है।

5. सामाजिक नियंत्रण ग्रामीण समाज की औपचारिक व्यवस्था से बंधी होती है। अनौपचारिक नियंत्रण धार्मिक नियमों, प्रथाओं और परम्पराओं के द्वारा स्थापित किया जाता है। इसके अन्तर्गत प्रत्येक व्यक्ति अपने लिए निर्धारित व्यवहार के नियमों के अनुसार कार्य करना अपनी नैतिकता समझता है। ग्रामीण समाज में गाँव के वृद्ध तथा सम्मानित लोगों का पंचायत के निर्णय में विशेष स्थान व महत्व होता है, जिनके निर्णयों द्वारा सामाजिक व्यवहारों को नियंत्रित किया जाता है।

नगरीय समाज में नियंत्रण की व्यवस्था बनाये रखने के लिए पुलिस, गुप्तचर विभाग, कानून, न्यायालय द्वारा स्थापित किया जाना नियंत्रित व्यवथायें होती हैं। नगरीय समाज इतना बड़ा होता है कि उनकी प्रकृति में परिवर्तनशीलता का होना आवश्यक है। नगरों की भीड़ में व्यक्ति की स्थिति अज्ञान होने के कारण व कोई भी समाज विरोधी व्यवहार के द्वारा अपने स्वार्थ को पूरा करने में लगा रहता है। यही दशा नगरों में कानूनों के नियंत्रण को स्पष्ट करती है।

नगरीय समाज का ग्रामीण समाज के साथ उपरोक्त बिन्दुओं पर अध्ययन करने के उपरान्त हम यह जान गये होंगे कि इन बिन्दुओं के अलावा भी कुछ ऐसी प्रवृत्तियाँ हैं जो नगरीय समाज को ग्रामीण से भिन्नता प्रदान करती है जैसे सामाजिक संबंधों के प्रतिमान, गतिशीलता की भावना, सामाजिक मनोवृत्तियाँ, आर्थिक संरचना का आधार, सांस्कृतिक जीवन, राजनीतिक जीवन, सामाजिक

परिस्थितिकी आदि के द्वारा आप जान गए होंगे कि आज का वर्तमान नगरीय समाज कई दृष्टिकोणों से ग्रामीण समाज से भिन्न स्थितियों में है।

बोध प्रश्न-2

1. नगरीय समाज की चार विशेषताओं का उल्लेख कीजिए।

.....

.....

.....

.....

2. नगरीय समाज का ग्रामीण समाज के साथ तुलनात्मक अध्ययन किन्हीं चार बिन्दुओं पर कीजिए।

.....

.....

.....

.....

3. नगरीय समाज की किन्हीं चार मुख्य समस्याओं का उल्लेख कीजिए।

.....

.....

14.5 नगरीय समाज की कुछ समस्यायें

- नगरीय समाज में औद्योगिकरण एवं प्रौद्योगिक विकास का सामाजिक एवं वैयक्तिक जीवन पर दुष्प्रभाव पड़ रहा है जिससे समाज में कई समस्यायें उत्पन्न हो रही हैं।
- नगरीय जनसंख्या में वृद्धि से परिणामस्वरूप गरीबी, बेकारी, बेरोजगारी आदि की समस्यायें उत्पन्न हो रही हैं।
- कृषि का यंत्रीकरण होने के कारण जैसे कृषक, मजदूर बेरोजगारी के शिकार होते जा रहे हैं जिन्हें यन्त्रीकृत कृषि करने की पद्धतियों का पता नहीं है।
- नगरीय समाज में आवास की समस्या उत्पन्न हो रही है जिससे झुग्गी झोपड़ी, गन्दी बस्ती आदि में वृद्धि हो रही है।
- नगरीय समाज में व्यवसायिक विभिन्नता की दृष्टि से कई समस्यायें उत्पन्न हो रही हैं जिससे रोजगार के अवसर बढ़ रहे हैं परन्तु बेरोजगारों में भी वृद्धि हो रही है।
- नगरीय समाज में औद्योगिकरण के परिणामस्वरूप विभिन्न भाषा, धर्म, सम्प्रदाय आदि के लोगो का एक जगह एकत्रित होने के कारण प्रजातंत्र के महत्व में कमी होती जा रही है।
- प्राथमिक समूहों का विघटन होता जा रहा है और द्वैतीयक संबंधों में वृद्धि होती जा रही है।
- पारिवारिक स्वरूपों में परिवर्तन हो रहा है। एकांकी परिवार का प्रचलन एवं पारिवारिक विघटन की समस्या उत्पन्न हो रही हैं।

- व्यक्तिवादिता की भावना को प्रोत्साहन मिल रहा है। अपने स्वार्थ की पूर्ति के लिए दूसरे का अहित किया जा रहा है।
- जाति प्रथा का अन्त हो रहा है और नगरीय समाज में अन्तर्जातीय विवाह का प्रचलन बढ़ रहा है।
- नगरीय समाज में पड़ोस के आपसी महत्व में कमी देखी जा रही है।
- नगरीय समाज की भौतिकवादी प्रवृत्ति को प्रोत्साहित कर रहा है और अभौतिक संस्कृति विलुप्त होती जा रही है।
- नगरीय समाज के परिदृश्य को देखते हुए यह कहा जा सकता है कि धर्म के प्रभाव में कमी एवं नास्तिकता का प्रचलन बढ़ रहा है।
- नैतिक मूल्यों का पतन हो रहा है एवं अनुशासनहीनता में वृद्धि हो रही है।
- नगरीय समाज प्रतिस्पर्द्धा पूर्ण प्रचलन को बढ़ावा दे रहा है।
- नगरीय समाज में विशेषीकरण का दुष्प्रभाव देखा जा रहा है।
- नगरीय समाज में मशीनीकरण के प्रचलन से बेरोजगारी, बेकारी, एकाधिकार में वृद्धि, औद्योगिक अशान्ति और दुर्घटनाओं की संख्याओं में वृद्धि तथा असंतुलित विकास की स्थिति उत्पन्न हो रही है।
- ग्रामीण जनसंख्या में कमी और नगरों की जनसंख्या में वृद्धि उत्पन्न होने वाली समस्याओं का सूचक है।
- नगरीय समाज में नगरीकरण के कारण विषम आर्थिक व्यवस्था का जन्म हो रहा है।

उपरोक्त बिन्दुओं पर नगरीय समाज की समस्याओं का उल्लेख होने के उपरान्त आप जान गए होंगे कि वर्तमान समय में नगर और नगर का समाज किस प्रकार विभिन्न प्रकार की समस्याओं से ग्रसित है। इन समस्याओं का समाधान कर हम मानव जाति नगरीय समाज को सुव्यवस्थित व संतुलित बनाने का अथक प्रयास अवश्य कर सकते हैं।

14.6 सारांश

नगरीय समाज आधुनिकता का जीता जागता स्वरूप है जो व्यक्ति तथा समाज में नवीनीकरण तथा आधुनिकीकरण की प्रक्रिया को उजागर करता है। नगरीय समाज सामान्य तौर पर कृत्रिमता पूर्ण होता है वहाँ बनावटीपना ज्यादातर देखने को मिलता है। नगरीय समाज के व्यक्तियों में औपचारिक संबंध ज्यादा होते हैं जो स्वार्थपूर्ण होता है। नगरीय समाज में प्रत्येक व्यक्तिगत विकास और स्वार्थ लाभ के कुछ भी करने को तैयार रहता है। नगरीय समाज की व्यवस्था तकनीकीय, धन लाभ से ओत-प्रोत, आधुनिकता को लिये हुए, संचार व यातायात की सुविधायुक्त, द्वैतीयक संबंधों पर आधारित देखी जाती है। नगरीय समाज में गाँवों की अपेक्षा जनसंख्या अधिक देखने को मिलती है। सामाजिक संरचना बनावटी पूर्ण होता है जिसका कोई स्थायित्व नहीं होता। औद्योगिककरण का विकास एवं तमाम सुविधाओं से परिपूर्ण नगरीय समाज होता है वहीं नगरीय समाज की कई समस्यायें देखने को मिलती हैं, जैसे-बेरोजगारी, भ्रष्टाचार, यौन अपराध, वैश्यावृत्ति, गरीबी, पर्यावरण प्रदूषण, मिलावट, अलगाववाद, लैंगिक असमानता, जनसंख्या वृद्धि, अनैतिकता, पारिवारिक विघटन, सामाजिक जीवन की शिथिलता आदि। हम इन समस्याओं का समाधान कर या कम कर नगरीय समाज को सुव्यवस्थित बना सकते हैं।

14.7 परिभाषिक शब्दावली

ऐच्छिक समितियाँ - नगरीय समाज में कुछ ऐच्छिक समितियाँ होती हैं जैसे-वर्ग, धर्म, संस्कृति आदि के हम अपनी इच्छा से सदस्य बन सकते हैं या छोड़ सकते हैं।

नैतिक शिथिलता- नगरीय समाज में पारिवारिक एकता के अभाव में पाश्चात्य संस्कृति के प्रभाव स्वरूप नैतिक शिथिलता देखने को मिलती है।

अपराधों में बहुलता- नगरीय समाज में अधिकांशतः अपराधिक प्रवृत्तियाँ जैसे-चोरी, डकैती, हत्या, खून खराबा, लूट खसोट, भ्रूणहत्या, भ्रष्टाचार, जालसाज़ी आदि अपराध सामान्यतः देखे जाते हैं।

14.8 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न-1

1. प्रतिस्पर्धीय जीवन।
2. कृत्रिम जीवन।
3. वैयक्तिवाद।
4. ममफोर्ड के अनुसार।
5. मार्गरेट मूरे।

बोध प्रश्न-2

1. इस प्रश्न का उत्तर 14.3 भाग को पढ़कर लिखिये।

-
2. इस प्रश्न का उत्तर 14.4 भाग को पढ़कर लिखिये।
 3. इस प्रश्न का उत्तर 14.5 भाग को पढ़कर लिखिये।
-

14.9 संदर्भ ग्रन्थ सूची

- 1- Bronislaw Mallinowski की पुस्तक 'The Social Life of Savages in North Western Melanesia'
 - 2- Ralph Linton की पुस्तक 'The Study of Man' प्रकाशक, Appletton Century
 - 3- Robert H.k. Lowie, Introduction to Cultural Anthropology
-

14.10 सहायक उपयोगी पाठ्य सामग्री

1. ग्रामीण एवं नगरीय समाज- जी.के. अग्रवाल (साहित्य भवन)।
 2. नगरीय समाजशास्त्र- डॉ. राजेन्द्र कुमार शर्मा (एटलांटिक पब्लिशर्स एंड डिस्ट्रीब्यूटर्स)।
-

14.11 निबंधात्मक प्रश्न

1. नगरीय समाज में उत्पन्न होने वाली विभिन्न समस्याओं की व्याख्या कीजिए।
 2. नगरीय समाज तुलनात्मक ढंग से क्या ग्रामीण समाज से ज्यादा विकसित है? स्पष्ट कीजिए।
-